श्रीविश्वनाथो जयति।

श्रीसंन्यासगीता।

भाषानुवाद और टिप्पणी सहित।

भारतधर्म सिण्डिकेटके शास्त्रप्रकाशक विभाग द्वारा प्रकाशित।

काशी।

गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा भारतधर्म प्रेसमें मुद्रित।

सन् १९२५ ई०।

द्वितीय आवृत्ति।] [मूल्य १)

श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डार।

श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्यालय काशीमें दीन दुखियोंके क्लेशनिवारणार्थ यह सभा स्थापित की गई है। इस सभाके द्वारा अति विस्तृत रीतिपर शास्त्र-प्रकाशनका कार्य प्रारम्भ किया गया है। इस सभा द्वारा धर्म्म-पुस्तिका पुस्तकादि यथासम्भव बिना मूल्य वितरण करनेका भी विचार रक्खा गया है। इस दानभण्डारके द्वारा महामण्डलसे प्रकाशित साधुओंका कर्तव्य, धर्म और धर्माङ्ग, दान-धर्म नारी-धर्म, महामण्डलकी आवश्यकता आदि कई एक हिन्दी भाषाके धर्मग्रन्थ और अंग्रेजी भाषाके कई एक ट्रैक्ट्स् बिना मूल्य योग्य पात्रोंको बांटे जाते हैं। शास्त्र-प्रकाशनकी आमदनी इसी दान-भण्डारसे दीन दुःखियोंके दुःखनिवारणार्थ व्यय की जाती है। इस सभामें जो दान करना चाहें या किसी प्रकारका पत्राचार करना चाहें, वे निम्न लिखित पतेपर पत्र भेजें।

सेक्रेटरी, श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डार,
श्रीभारतधर्म महामण्डल, प्रधान कार्यालय
जगत्गञ्ज, बनारस (छावनी।)

श्रीविश्वनाथो जयति ।

श्रीसंन्यासगीता ।

भाषानुवाद और टिप्पणी सहित ।

भारतधर्म सिण्डिकेटके शास्त्रप्रकाशक विभाग द्वारा प्रकाशित ।

काशी ।

गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा भारतधर्म प्रेसमें मुद्रित ।

सन् १९२५ ई० ।

द्वितीय आवृत्ति ।] [मूल्य १)



श्रीभारतधर्म्म महामण्डल और उससे सम्बन्ध रखनेवाली सब संस्थाओंके विषयमें कुछ जानना हो तो निम्नलिखित पतेसे पत्र व्यवहार करें।

जनरल सैक्रेटरी,
श्रीभारतधर्म्म महामण्डल,
महामण्डल भवन जगत्गंज,
बनारस, छावनी।



विज्ञापन ।

वैदिक सिद्धान्तोंकी सारभूत अनेक गीताएं पूज्यपाद महर्षियोंने जगत्के कल्याणार्थ प्रकाशित की हैं। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीसप्तशती गीता (दुर्गा) ये दोनों जगत्प्रसिद्ध गीताएं श्रेष्ठ उपनिषद् स्वरूप हैं। वेदोक्त अध्यात्म रहस्यकी प्रकाशक श्रीभगवद्गीता और अधिदैव रहस्यकी प्रकाशक श्रीसप्तशतीगीता है। ये दोनों गीताएँ कुछ विशेष अधिकार रखनेवाली हैं। इन दोनों गीताओंपर अपूर्व भाष्य श्रीभारतधर्ममहामण्डल-शास्त्र-प्रकाश विभाग द्वारा प्रणयन हो रहे हैं। श्रीभगवद्गीताके भाष्यका हिन्दी अनुवाद कुछ छप भी गया है।

इन दोनों गीता शास्त्रोंके अतिरिक्त सात और गीताएं ऐसी हैं कि, जिनका हिन्दी अनुवाद और टिप्पणीसहित प्रकाशित होना और सब धर्मजिज्ञासुओंको उनका अध्ययन करना परम आवश्यक है। विष्णु उपासनाकी श्रीविष्णुगीता, सौर उपासनाकी श्रीसूर्यगीता, शक्ति उपासनाकी श्रीशक्तिगीता, गाणपत्य उपासनाकी श्रीधीश-गीता, शैव उपासनाकी श्रीशम्भुगीता, सब वर्ण, और सब आश्रमोप-योगी श्रीगुरुगीता और सन्न्यास-आश्रमोपयोगी सन्न्यासगीता इस प्रकारसे ये सप्त गीताएं विशेष लोकहितकर हैं। ये सातों गीताएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। श्रीसन्न्यासगीताकी द्वितीय आवृत्ति यह है।

श्रीसन्न्यास गीता द्वादश अध्यायोंमें विभक्त है। इसमें साधारण धर्म, दानधर्म, तपधर्म, यज्ञधर्म, कालधर्म आदिके साथ साधु सन्न्यासियोंके सब अधिकार भेद और विस्तारित धर्म वर्णित होने-से यह ग्रन्थरत्न केवल चतुर्थ आश्रम-धारी साधु सन्न्यासियोंके लिये ही परम हितकारी नहीं है, परन्तु सब वर्ण और सब आश्रमके लिये इस ग्रन्थका अध्ययन करना परम लाभदायक है। गृहस्थ-गणको तो इस ग्रन्थरत्नसे विविध ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

आजकलके साधु सन्न्यासियोंमें जो अनेक मतभेद, जो अनेक पन्थ-भेद, जो अनेक सम्प्रदाय भेद, जो अनेक आचार-भेद और जो अनेक विचारभेद देखनेमें आते हैं, उनका समन्वय करके शान्ति और पारस्परिक विरोध दूर करनेके लिये यह ग्रन्थ रत्न परम उपयोगी है। निवृत्तिसेवी चतुर्थ आश्रमका अनु-करण करनेवाले जितने प्रकारके साधु सन्न्यासी आदि हैं, वे निरपेक्ष और आस्तिक बुद्धिसे इस ग्रन्थरत्नका स्वाध्याय करनेसे अपने

अपने अधिकारानुसार आध्यात्मिक उन्नति करनेमें समर्थ होंगे इसमें सन्देह नहीं। वर्णगुरु ब्राह्मण और आश्रमगुरु सन्न्यासी हैं। इस कारण ब्राह्मण वर्णके सन्न्यासिगण ब्राह्मणादि सब वर्णके स्वाभाविक गुरु और नेता हैं इसमें अणुमात्र मतभेद नहीं है। सर्वमान्य सर्वसम्मत नेता सन्न्यासियोंको सहायता देने योग्य उनके अधिकारोंका निर्णायक और उनका मार्गप्रदर्शक होनेसे यह ग्रन्थरत्न सन्न्यासीमात्रके लिये परम आदर और नियमित स्वाध्यायके उपयोगी है। इस ग्रन्थरत्नका प्रचार जितना अधिक होगा, उतना ही हिन्दु समाजका कल्याण है।

आजकलके नवशिक्षित लोग साधु सन्न्यासी मात्रके ऊपर विरुद्ध कटाक्ष करते हैं और वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि, साधु सन्न्यासी हिन्दू समाजके गलग्रह और वृथा भारस्वरूप हैं'। यद्यपि ऐसी विरुद्ध भावनाओंके उत्पन्न करानेमें आज कलके साधु सन्न्यासियोंका कुछ दोष अवश्य है, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि, ऐसी चिन्ता करनेवाले बिलकुल निर्दोष हैं। साधु सन्न्यासी गण समाजमें अपना अधिकार भूल रहे हैं, सन्न्यास धर्मोक्त कर्म उपासना ज्ञानकी साधनप्रणाली वे विस्मृत हो गये हैं और सन्न्यासाश्रमका प्रधान धर्म निष्काम व्रतकी आवश्यकता उनके स्मृतिपटलसे उठ ही गई है। दूसरी ओर आज कलके शिक्षित गृहस्थगण आर्य जातिके इस सिद्धान्तको भूल ही गये कि, पूज्यपाद महर्षियोंके विचारानुसार साधुसन्न्यासी ही सब वर्ण और आश्रमके स्वाभाविक गुरु हैं और वेही हिन्दुसमाजके स्वाभाविक और चिरमान्य नेता हैं और हो सकते हैं, क्योंकि वसुधाको अपना कुटुम्ब मानना, सर्वलोक हितकर होना और जगत्के हितार्थ आत्मसमर्पण करना निष्काम व्रतपरायण साधु-सन्न्यासीके लिये ही सम्भव और सहज साध्य है। यह ग्रन्थरत्न इन दोनों प्रकारके अधिकारियोंकी शङ्काओंके समाधान करने और दोनों-को यथावत् इस विषयमें मार्ग प्रदर्शित करनेमें सर्वथा उपयोगी है।

निवेदक—

गोविन्दशास्त्री दुगवेकर,

भारतधर्म सिण्डिकेट भवन, स्टेशनरोड, बनारस।

विषयानुक्रमणिका ।

प्रथम अध्याय ।

द्वितीय अध्याय ।

तृतीय अध्याय ।

॥ ॐ नमः श्रीसच्चिदानन्दाय ॥

श्रीसंन्यासगीता

भाषानुवाद और टिप्पणी सहित ।

अनाद्यनन्तवैराजलीलैश्वर्यविभावन ! ।
देशकालाऽपरिच्छिन्न ! जयस्वामिञ्जयोऽस्तु ते ॥ १ ॥
नमामि जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणम् ।
सर्वात्मानं परैश्वर्य्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ २ ॥
कर्मसाक्षिन् ! भक्तचित्तविहारिन् ! भूतभावन ! ।
सर्वबुद्धिप्रेरकत्वात् स्मृता लोके जगद्गुरुः ॥ ३ ॥
प्रार्थयामि ततो देव ! कृपया प्राणिनां धियः ।
जगत्कल्याणैकहेतुज्ञानमार्गे प्रवर्तय ॥ ४ ॥
प्रयागे नैमिषारण्ये विशालायां त्रिपुष्करे ।
गङ्गासरस्वतीतीरे नर्मदायास्तटे तथा ॥ ५ ॥

जो श्रीभगवान् आदि अन्त रहित विराट् सृष्टि लीलारूप ऐश्वर्य्यके सञ्चालक हैं, जो देशकालसे अपरिच्छिन्न हैं और जो सकल अभ्युदय और निःश्रेयसके कर्म्मोंमें जय प्रदान करनेवाले हैं उनकी जय हो ॥ १ ॥ जगत्की उत्पत्ति स्थिति और लयके कारणरूप, सर्व्वात्मा, परमैश्वर्य्यवान् और वाणी और मनसे अगोचर श्रीभगवान्को प्रणाम करता हूं ॥ २ ॥ हे कर्म्मोंके साक्षीरूप ! हे भक्तोंके चित्तमें विहार करनेवाले ! हे भूतभावन ! आपकी सत्तासे सब चराचर सत्तावान् हैं, आपही सब प्राणियोंकी बुद्धिके प्रेरक हैं, इस कारण आप जगद्गुरु कहे जाते हैं ॥ ३ ॥ अतः हे देव ! प्रार्थना यह है कि, जगत्के कल्याणका एक ही उपायरूप जो ज्ञानमार्ग है उसकी ओर प्राणिमात्रकी बुद्धियोंको कृपापूर्वक प्रेरित करिये ॥ ४ ॥ प्रयागमें, नैमिषारण्यमें, उज्जयिनीमें, त्रिपुष्करमें, गंगा, सरस्वती, नर्मदा,

तापीगोदावरीरेवायमुनागण्डकीतटे।
हरिद्वारे कुरुक्षेत्रे तीर्थेष्वन्येष्वपि स्वयम् ॥ ६ ॥
ऋषयो मुनयः सिद्धा महात्मानश्चरन्ति यत्।
तज्जगन्मङ्गलायेति निश्चितं तत्त्वदर्शिभिः ॥ ७ ॥
सन्तः कारुणिका नित्यं तीर्थव्याजेन सङ्गताः।
दुष्कृतानि व्यपोहन्ति दिव्यज्ञानोपदेशिनः ॥ ८ ॥
नानाशास्त्रकथाख्यानकथनश्रवणादिभिः।
उद्धरन्ति जनान् सर्वान् पावयन्ति परस्परम् ॥ ९ ॥
तस्मात्सर्वात्मना नूनं सङ्गं कुर्वीत साधुभिः।
सर्वोपकारनिरताः सन्तः संसारतारकाः ॥ १० ॥
अस्ति वै नैमिषारण्यं सुप्रसिद्धं तपोवनम्।
ऋषिभिर्मुनिभिर्जुष्टमनेकाश्रमशोभितम् ॥ ११ ॥
रसालैः सालहिन्तालैः प्रियालैश्च प्रियङ्गुभिः।
तालैस्तमालैर्मन्दारैर्नागपुन्नागचम्पकैः ॥ १२ ॥

तापी, गोदावरी, यमुना और गण्डकीके तटपर, हरिद्वारमें, कुरुक्षेत्रमें और अन्य तीर्थोंमें भी ऋषि, मुनि, सिद्ध और महात्मा स्वयं विचरण करते हैं वह उनका विचरना जगत्के जीवोंके मङ्गलके अर्थ हैं, ऐसा तत्त्वदर्शियोंने निश्चय किया है॥ ५—७॥ सत्पुरुष दयालु हैं वे तीर्थस्नानके व्याज (बहाने) से सम्मिलित होकर दिव्यज्ञानका उपदेश करते हुए नित्य ही पापोंका नाश करते हैं, ॥ ८ ॥ वे अनेक शास्त्रोंकी कथा और व्याख्यानोंके कथन और श्रवणादिसे सब मनुष्योंको उद्धार करते हैं और एक दूसरेको पवित्र करते हैं ॥ ९ ॥ इस कारण सर्व्वतोभावेन अवश्य ही सत्संग करना चाहिये, क्योंकि सकल जीवोंके उपकारमें तत्पर महात्मा ही संसारसमुद्रसे पार करनेवाले हैं ॥ १० ॥ नैमिषारण्य नामक सुप्रसिद्ध तपोवन है जो ऋषि और मुनियोंसे सेवित है एवं जो अनेक आश्रमोंसे सुशोभित है, जो कल्पवृक्षके समान समृद्धिवाले और दिव्य पुष्प, फल एवं पत्रवाले आम, साल, हिन्ताल, प्रियाल, प्रियंगु, ताल, तमाल, मन्दार, नाग,

द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बूभिः कल्पवृक्षसमृद्धिभिः।
पनसाश्वत्थन्यग्रोधैः पूगैः किंशुकचन्दनैः ॥१३॥

कुन्दैः कुरबकैर्नीपैर्दिव्यपुष्पफलच्छदैः।
द्रुमैः कामदुघैरन्यैः प्रपूर्णञ्चाऽतिशोभनम् ॥१४॥

मनोज्ञकुसुमामोदनानावीरुद्विराजितम्।
मल्लिकामाधवीजातिवासन्तीभिः सुमण्डितम् ॥१५॥

सरित्सरोभिरच्छोदैर्लसद्रुचिरवालुकैः।
कुमुदोत्पलकल्हारशतपत्रादिशोभितैः ॥१६॥

हंससारसकादम्बचक्राख्यकलस्वनैः।
गुञ्जद्भ्रमरझङ्कारनादितैः समलङ्कृतम् ॥१७॥

फलमूलाशनैर्दान्तैश्चारुकृष्णाजिनाम्बरैः।
सूर्य्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः ॥१८॥

महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः।
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः ॥१९॥

पुन्नाग, चम्पा, दाख, ईख, केला, जम्बू, पनस, अश्वत्थ, न्यग्रोध, सुपारी, किंशुक, चन्दन, कुन्द, कुरवक, नीप और कामफलप्रद अन्य वृक्षोंसे पूर्ण सुशोभित है॥ ११-१४॥ जो सुन्दर पुष्पोंकी सुगन्धिवाली अनेक विस्तृत लताओंसे विराजित है और मल्लिका, माधवी, जाति और वासन्ती लताओंसे सुमण्डित है॥ १५॥ जो स्वच्छ जलवाले, चमकीली सुन्दर वालुकावाले, कुमुद कमल कल्हार और शतपत्रादिसे सुशोभित, हंस सारस कादम्ब और चक्रवाकोंकी गम्भीर चहचहाटसे युक्त एवं गूंजते हुए भंवरेके झंकारसे निनादित, नदी और तलावोंसे समलंकृत है। जो फल और मूल भक्षण करनेवाले, तपके क्लेशको सहन करनेवाले, सुन्दर कृष्ण मृगचर्मके वस्त्रवाले, सूर्य्य और अग्निके समान तेजस्वी, तपके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करनेवाले, इन्द्रियसंयमी, मोक्षमें तत्पर, ब्रह्मवादी, ब्रह्मस्वरूप, संयमशील, महाभाग महर्षियोंसे युक्त है। जो जलमात्र पान करनेवाले, वायुमात्र पान करनेवाले, पत्ते घास खानेवाले, कौपीन

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पर्णाहारैस्तथैव च ।
चीरवल्कलसंवीतैः सर्वदाऽध्युषितं शिवम् ॥२०॥
अदंशमशकं रम्यमनालोकितदुर्जनम् ।
अश्रुताधिव्याधिदुःखमवितर्क्यतपःफलम् ॥२१॥
यत्र सिंहादयो हिंस्रा अपि सौहृदमास्थिताः ।
निर्वैराः क्रौर्यनिर्मुक्ताश्चरन्त्येणैश्च गाकुलैः ॥२२॥
शकुन्ता यत्र दृश्यन्ते मधुरस्वरगायनाः ।
ऋषिघुष्टाः सामगीतीर्गायन्ति शुकसारिकाः ॥२३॥
तत्रैकदा पुण्यदेशे नैमिषे कल्मषद्विषि ।
समवेता महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥२४॥
नाना तपः प्रदेशेभ्य आश्रमेभ्यश्च सर्व्वतः ।
तीर्थेभ्यो विविधेभ्यश्च प्रयता लोकपावनाः ॥ २५ ॥
सशिष्याः साग्नयः शान्ता पश्यन्तो वनमुत्तमम् ।
पावयन्तो जनान्मार्गे समाजग्मुः कृपालवः ॥२६॥

और वल्कल धारण करनेवाले महर्षियोंसे सर्वदा अधिष्ठित और मंगलकर है॥ १९–२० ॥ जो डांश और मच्छरोंसे रहित और मनोहर है। दुर्जनोंने जिसको देखा नहीं है। आधि, व्याधि और दुःख जहां सुने भी नहीं गये हैं। जहांके तपका फल अनुमान नहीं किया जा सकता है। जहां सिंहादि हिंस्र पशु भी गौ और मृगोंके साथ मैत्री स्थापन करके निर्वैर हो क्रूरतासे रहित होते हुए विचरण करते हैं। शकुन्त जहां मधुरस्वरसे गायन करते दिखाई देते हैं और शुक एवं सारिकाएं जहां ऋषियोंके द्वारा गाये हुए सामवेदके गानको गाती हैं ॥२१–२३॥ उस पापनाशक पुण्य देश नैमिषारण्यमें एक बार लोकपावन, शान्त, संयमशील, ब्रह्मर्षि श्रेष्ठ, कृपालु, सिद्ध महात्मा चारों ओरके नाना तपःप्रदेशोंसे, आश्रमोंसे तथा विविध तीर्थोंसे चलकर अग्निहोत्र और शिष्योंको साथ लिए हुए, मार्गमें मनुष्योंको पवित्र करते हुए और उस उत्तम वनको देखते हुए आये ॥ २४–२६ ॥ क्योंकि सब

अल्पज्ञान् प्राणिनः सर्वान् सत्सङ्गेनोद्दिधीर्षवः।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन भूमौ सन्तश्चरन्ति हि ॥ २७ ॥

स्नाताः कृतार्चनाश्चीर्णदेवपितृषितर्पणाः।
तत्रैवोषुः कियत्कालं ते कथालापनिर्वृताः ॥ २८ ॥

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते मुनयः शंसितव्रताः।
तत्रैकदा पर्यटन्तः समैक्षन्तैकमाश्रमम् ॥ २९ ॥

बलिहोमार्चितं दिव्यं सुसंमृष्टानुलेपनम्।
शुष्यच्छ्यामाकनीवारं वेदिभिश्च विराजितम् ॥ ३० ॥

विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैरार्चितं शुभैः।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ॥ ३१ ॥

शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम्।
दिव्यमाश्रयणीयं तमाश्रमं श्रमनाशनम् ॥ ३२ ॥

प्रविशन्तः परं प्रीताः सर्व एव महर्षयः।
ज्ञानोपदेशलाभाय पर्याप्तं मेनिरे स्थलम् ॥ ३३ ॥

अल्पज्ञानी प्राणियोंको सत्संग द्वारा उद्धार करते हुए ही तीर्थयात्राके प्रसंगसे इस पृथिवीपर सत्पुरुष विचरण किया करते हैं ॥ २७ ॥ स्नान भगवदर्चन एवं देवता ऋषि और पितरोंका तर्पण करके कथा वार्ता कहते हुए कुछ समय तक उन्होंने वहीं निवास किया ॥ २८ ॥ वहां एक दिन दिव्यज्ञानसम्पन्न व्रताचारमें तत्पर उन मुनियोंने भ्रमण करते हुए एक आश्रमको देखा। जो बलि और हवनके द्वारा सुशोभित, देवभवनतुल्य और अत्यन्त परिष्कृत है। जिसमें श्यामाक और नीवार सूख रहे हैं, जो वेदियोंसे सुशोभित है, ॥ २९–३० ॥ विशाल अग्निकुण्ड और शुभ स्रुवा एवं पत्रोंसे सुशोभित दिव्य पुष्पोंके उपहारसे चारों ओर समावृत, सकल प्राणिमात्रका शरण्य, वेदघोषसे निनादित, श्रमनाशन, आश्रय करने योग्य उस दिव्य आश्रममें परम प्रसन्न उन सब ही महर्षियोंने प्रवेश किया और ज्ञानोपदेश प्राप्त करनेके लिये उस स्थानको पर्य्याप्त समझा ॥ ३१—३३ ॥

तदैवोपस्थितं तत्र याज्ञवल्क्यं महामुनिम् ।
सूर्यतेजःप्रतीकाशं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ ३४ ॥
धर्मधर्माङ्गतत्त्वज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम् ।
कर्मज्ञानोपासनार्घ्यसूक्ष्मतत्त्वावमर्शिनम् ॥ ३५ ॥
जितेन्द्रियं योगपरं मुनिवृन्दनिषेवितम् ।
यदृच्छया पर्यटन्तं दृष्ट्वा मुमुदिरे भृशम् ॥ ३६ ॥
अथाऽतिपूताः सुप्रीता मुनयो दिव्यदृष्टयः ।
भक्त्या प्रणामान् कुर्व्वाणाः समन्तादुपतस्थिरे ॥ ३७ ॥
चक्रिरे तस्य सत्कारं विधिनाऽऽसनसंस्थितम् ।
उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ॥ ३८ ॥
गृहीतार्घ्यं ततः प्रीतं तं मुनिं ब्रह्मवादिनम् ।
विनयावनताः सर्वे सादरञ्चेत्थमूचिरे ॥ ३९ ॥
त्वद्दर्शनेन पूताः स्मः कृतकृत्या बभूविम ।
वयमत्र महाभाग ! करुणावरुणालय ! ॥ ४० ॥

वहां उसी समय सूर्यके तेजके समान तेजस्वी, सर्व्वशास्त्रविशारद, धर्म्म और धर्म्माङ्गोंके तत्त्वको जाननेवाले, वेद और वेदाङ्गोंके पारङ्गत, कर्म्म, ज्ञान और उपासनाके पूजनीय सूक्ष्म तत्त्वोंके विचार करनेवाले ॥ ३४—३५ ॥ जितेन्द्रिय, योगनिष्ठ, मुनिवृन्दोंके द्वारा सेवित और अपनी इच्छासे ही पर्यटन करनेवाले उपस्थित महामुनि याज्ञवल्क्यके दर्शन करके अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ३६ ॥ इसके अनन्तर अत्यन्त पवित्र, सुप्रसन्न, दिव्यदृष्टि मुनिगण भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हुए चारों ओर खड़े हुए ॥ ३७ ॥ और आसनपर बैठे हुए महर्षि याज्ञवल्क्यका विधिपूर्वक सत्कार किया एवं पवित्र जल, पुष्प, मूल और फलोंका उपहार उनको अर्पण किया ॥ ३८ ॥ इसके पश्चात् अर्घ्य ग्रहण करके प्रसन्न चित्त उन ब्रह्मवादी मुनिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्यसे आदरसहित विनयपूर्वक नम्र होकर इस प्रकार निवेदन किया ॥ ३९ ॥ हे करुणाके सागर ! महाभाग ! हम इस समय आपके दर्शनसे पवित्र और कृतकृत्य हुए हैं ॥ ४० ॥

वयं सर्वेऽधुना तात ! प्रपन्नास्त्वां महामुने ! ।
शाधि ज्ञानप्रदानेन श्रूयसे ज्ञानभास्करः । ॥ ४१ ॥

इति ब्रुवत्सु सर्वेषु याज्ञवल्क्यो महामतिः ।
अतिगम्भीरया वाचा स्मयमान उवाच ह ॥ ४२ ॥

साधु साधु महाभागाः ! प्रीतोऽस्मि विनयेन वः ।
ज्ञानतत्त्वं परं पुम्भिः शीलेनैवात्र लभ्यते ॥ ४३ ॥

शीलं हि परमा विद्या शीलमेव परं तपः ।
नैव शीलात्परं किञ्चित् तस्माच्छीलं सदाश्रयेत् ॥ ४४ ॥
लोकोपकारकर्तॄणि चरितानि भवादृशाम् ।
तदहं वः प्रवक्ष्यामि यत्प्रष्टव्यं तदुच्यताम् ॥ ४५ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनयः प्रीताः मिथः सर्वे परामृशन् ।
पृच्छेत्सर्वहितं किञ्चित्कस्तादृग्बुद्धिमानिति ॥ ४६ ॥

एवं विचारयन्तस्ते निश्चित्य जैमिनिं मुनिम् ।
प्रार्थयन्त प्रश्रयेण भक्त्या परमया युताः ॥ ४७ ॥

हे प्रभो ! हे महामुने ! हम सब इस समय आपके शरणागत हैं, हमको ज्ञानदान करके शासन कीजिये क्योंकि हमने सुना है, आप ज्ञानिश्रेष्ठ हैं ॥ ४१ ॥ सबके इतना कहनेपर महामति याज्ञवल्क्य अति गम्भीर वचनोंसे मुस्कुराते हुए बोले । हे महाभागो ! ठीक है ठीक है, तुम्हारी नम्रतासे मैं प्रसन्न हूं। इस संसारमें ज्ञानका परम तत्त्व मनुष्यको शीलसे ही प्राप्त होता है, शील ही परम विद्या है, शील ही परम तप है, शीलसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है । अतः शीलका सदा आश्रय करना चाहिये । आपके सदृश महामुनियोंके चरित्र लोकोपकार करनेवाले हैं अतः जो प्रष्टव्य हो, सो कहिये मैं आप लोगोंसे वर्णन करूंगा। ॥ ४२—४५ ॥ यह सुनकर मुनिगण प्रसन्न हो परस्पर विचार करने लगे कि ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो सर्वहितकारी कुछ प्रश्न पूछे ॥ ४६ ॥ इस प्रकार सोच विचार कर उन्होंने जैमिनी मुनिको निश्चित किया और वे उनसे अत्यन्त भक्तिभावसे प्रार्थना करने लगे कि सब धर्मोंके जाननेवाले हे भगवन् !

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! त्वमस्मासु मतोऽधिकः ।
त्वमेक एव जानासि कर्मणो गहनां गतिम् ॥ ४८ ॥

तस्माद्वृतोऽसि भो ब्रह्मन् ! तत्त्वं धर्मस्य पृच्छ्यताम् ।
बहुशाखस्य धर्मस्य दुर्गमत्वं विदुर्बुधाः ॥ ४९ ॥

अतो धर्मश्च धर्माङ्गान्यजानन्तोऽथ मोहिताः ।
वेदतत्त्वार्थविज्ञानहीनत्वाल्लक्ष्यविच्युताः ॥ ५० ॥

विवदन्ते नरा यत्र यत्र सन्दिहते सदा ।
तमेवोद्दिश्य विषयं जिज्ञासा क्रियतामिह ॥ ५१ ॥

विविधेनैव तापेन परितप्ताः शरीरिणः ।
येन ज्ञानेन कल्याणमाप्नुयुस्तद्विचार्यताम् ॥ ५२ ॥

एतन्निशम्य सत्कृत्य तान्मुनीनथ जैमिनिः ।
मुनिराजं याज्ञवल्क्यं सत्कुर्व्वन्निदमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

जैमिनिरुवाच ।

अहो पुण्यमहो भाग्यं सफलश्चाऽद्य नस्तपः ।
जातमेवं विधे क्षेत्रे भवतो दर्शनं यतः ॥ ५४ ॥

हम लोगोंसे आप श्रेष्ठ हैं। आप ही एक कर्मकी गहन गतिको जानते हैं इसलिये हे ब्रह्मन् ! आप ही व्रती होकर धर्मका तत्त्व पूछिये ॥ ४७—४८ ॥ अनन्त शाखाओंवाले धर्मकी दुर्गमता पण्डित लोग जानते हैं। धर्म और धर्माङ्गोंके न जाननेसे वे मोहित और वैदिक तत्त्वार्थके विज्ञानसे विहीन होनेके कारण लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे हैं ॥५०॥ जिस विषयमें लोग विवाद करते हैं और जहां संदेह करते हैं, उसी विषयकी आप जिज्ञासा कीजिये। तीन तापोंसे प्राणीमात्र परितप्त हैं, जिस ज्ञानसे उनका कल्याण हो, वही पूछिये ॥ ५१–५२ ॥ यह सुनकर उन मुनियोंके प्रति जैमिनिने कृतज्ञता प्रकट की और वे मुनिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्यसे आदरके साथ बोले ॥ ५३ ॥

महर्षि जैमिनिने कहाः–यह हमारा बड़ा सुकृत है, हमारा अहोभाग्य है, हमारा तप सफल हुआ है, जो ऐसे क्षेत्रमें हमें आपका दर्शन हुआ।

नूनमेषा भगवतः सर्वान्तर्यामिणो दया।
यदस्माभिरियं प्राप्ता भवतः पुण्यसङ्गतिः॥ ५५॥
अद्य ज्ञास्यामहे तत्त्वं गूढं वेदोपपादितम्।
सारञ्च सर्वशास्त्राणां त्वन्मुखाम्भोजनिस्सृतम्॥ ५६॥
तद्ब्रूहि भगवन्! पूर्वमेतज्जिज्ञासितं हि नः।
को भावः तस्य भेदास्तु कियन्तः परिकीर्तिताः॥ ५७॥
का श्रद्धा कीदृशी चेयं भावशोधनकारिणी।
कियन्त एव वा तस्या भेदाः ख्याता दयानिधे!॥ ५८॥
त्वदुक्तश्रवणोत्पन्नश्रद्धावृद्धया यथा वयम्।
विशुद्धभावा संसारं सन्तरेम तथा कुरु। ५९॥
अधिगन्तुञ्च भगवद्दिव्यभक्त्यधिकारिताम्।
शक्नुमो ब्रह्मनिष्णात! ब्रूहि सर्वं यथोचितम्॥ ६०॥
तदाकर्ण्य क्षणं ध्यात्वा याज्ञवल्क्योऽनुमोद्य तत्।
कृपया परयाविष्टः प्रवक्तुमुपचक्रमे॥ ६१॥

यह उस सर्वान्तर्यामी भगवान्‌की बड़ी दया है, जो हमें आपकी पुण्यकारिणी सङ्गति प्राप्त हुई है॥ ५४-५५॥ आज हम आपके मुख कमलसे निःसृत वेदोक्त गूढ़तत्त्व और सब शास्त्रोंका सार जानना चाहते हैं इसलिये हे भगवन्! यही हमारी पहिली जिज्ञासा है, इसीको पहिले कहिये। भाव क्या है, उसके भेद कितने हैं, श्रद्धा क्या है, भावको शोधन करनेवाली वह कैसी है, उसके भेद कितने हैं? हे दयानिधे! आपके कथनको श्रवणकर उत्पन्न हुई श्रद्धाकी वृद्धिसे जिस प्रकार हम विशुद्ध भाव होकर संसारसे तर जायं ऐसा कीजिये। हे ब्रह्मज्ञ! जिससे हम भगवान्‌की दिव्य भक्तिकी अधिकारिताको जाननेमें समर्थ हो जायं, वही यथोचित रूपसे हमें सुनाइये॥ ५६-६०॥ यह सुनकर याज्ञवल्क्यने क्षणमात्र ध्यान मग्न होकर महर्षिजैमिनिका अनुमोदन किया और वे परम कृपासे युक्त होकर बोलनेका उपक्रम करने लगे॥ ६१॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

भाव एवाऽत्र सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वं निगद्यते ।
भावात्सूक्ष्मतरं किञ्चित्तत्त्वं न परिलक्ष्यते ॥ ६२ ॥
भावातीतमपि ब्रह्म ज्ञायते योगिभिः सदा ।
साहाय्येनैव भावस्य प्रथमं तत्त्ववेदिभिः ॥ ६३ ॥
ब्रह्मसाक्षात्कृतौ भावमन्तिमालम्बनं विदुः ।
सारूप्यावस्थितौ वृत्तेः सदसद्भावभेदतः ॥ ६४ ॥
उत्पद्येते तु भावेन पुण्यपापे उभे अपि ।
सूक्ष्मावस्था तु भावस्य त्रैविध्यमवलम्बते ॥ ६५ ॥
आध्यात्मिकाऽऽधिदैवाऽऽधिभौतिकानीति शास्त्रतः ।
ज्ञानिना भक्तराजेन तत्त्रयस्यावलम्बतः ॥ ६६ ॥
ब्रह्मेश्वरविराड्रूपैर्भगवान् दृश्यते क्रमात् ।
ब्रह्माण्डेषु च सर्वत्र ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ६७ ॥
भावांस्त्रीन्सततं सम्यग्वीक्षन्ते सर्ववस्तुषु ।
भावो हि स्थूलावस्थायां सदसद्रूपमास्थितः ॥ ६८ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—यहांपर भावतत्त्व सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म कहा गया है। भावसे सूक्ष्म तो कोई तत्त्व ही नहीं दीख पड़ता। तत्त्ववेत्ता योगिगण भावातीत ब्रह्मको भी भावकी ही सहायतासे जान लेते हैं। ब्रह्म-साक्षात्कारमें भाव ही अन्तिम अवलम्ब है। सारूप्य अवस्थामें वृत्तिके सत् और असत् भावोंसे ही पुण्य और पाप दोनों उत्पन्न होते हैं। भावकी सूक्ष्मावस्था शास्त्रोंमें त्रिविध कही गई है ॥ ६२—६५ ॥ यथा—आध्यात्मिक अवस्था, अधिदैव अवस्था और आधिभौतिक अवस्था। इन्हीं-के अवलम्बनसे भक्तराट् ज्ञानिगण क्रमशः ब्रह्म, ईश्वर, और विराट्के रूपोंमें भगवान्‌को देखते हैं। ब्रह्माण्डकी सभी वस्तुओंमें तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण इन्हीं तीन भावोंको भलीभांति निरन्तर देखते हैं। स्थूल अवस्थामें सत् और असत्‌रूपमें स्थित

स्वर्गञ्च नरकञ्चैव प्रापयत्यत्र मानवान्।
श्रद्धाया जनको भाव आत्मोन्मुखकृताविह ॥ ६९ ॥
अन्तःकरणवृत्तेश्च श्रद्धैका मूलकारणम्।
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः ॥ ७० ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसीति बुभुत्सवः ! ।
तासान्तु लक्षणं विप्राः ! शृणुध्वं भक्तिभावतः ॥ ७१ ॥
श्रद्धा सा सात्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका।
प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिकाऽपरा ॥
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता ॥ ७२ ॥

इति श्रीसन्यासगीतायां महर्षिसमागमो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

जैमिनिरुवाच।

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ ! धर्माङ्गज्ञानभास्कर ! ।
त्वत्समो वेदवेदांगनिष्णातो नेतरो जनः ॥ १ ॥

होकर भाव ही मनुष्योंको स्वर्ग अथवा नरकमें पहुंचाता है। भाव श्रद्धाका जनक है और अन्तःकरणकी वृत्तिको आत्मोन्मुख करनेके लिये श्रद्धा ही मूलकारण है। प्राणियोंकी प्रवृत्तिके अनुसार श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है ॥६८–७०॥ यथा—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। हे धर्मतत्त्वके जाननेकी इच्छा करनेवाले विप्रगण ! अब उनके लक्षण भक्तिभावसे सुनो। विशुद्ध ज्ञान मूलक श्रद्धा सात्त्विकी है, प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसी है और विचारहीन संस्कारमूलक तामसी श्रद्धा है ॥७१–७२॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीताका महर्षि समागम नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

महर्षि जैमिनि बोले—हे सब शास्त्रार्थोंके तत्त्वोंको जाननेवाले धर्माङ्गज्ञानके सूर्यस्वरूप ! आपके समान वेद और वेदांगोंमें निष्णात दूसरा कोई नहीं है इसलिये हे धर्मज्ञोंके धुरीण ! हम लोग

अतस्त्वां धर्मविद्धुर्यं पृच्छामो भक्तितो वयम् ।
ज्ञेयं स्फुटं सर्वमुक्त्वा जिज्ञासूननुकम्पय ॥ २ ॥
दुर्ज्ञेयं दुर्गमञ्चापि धर्मतत्त्वं नृणामिह ।
बहुशाखश्च वेदोऽयं दुर्बोध इति कीर्त्यते ॥ ३ ॥
सन्ति नाना पुराणानि स्मृतयो दर्शनानि च ।
व्यञ्जयन्ति च भिन्नानि स्वमतानि पृथक् पृथक् ॥ ४ ॥
आचार्या बहवस्तेषां मतञ्चाऽपि विभिद्यते ।
तत एव वयं सर्वे तत्त्वं ज्ञातुं न शक्नुमः ॥ ५ ॥
भवान् संदर्शितो दैवाद्विधात्रा ज्ञानसागरः ।
अतस्त्वां परिपृच्छामः शाधि नः शरणागतान् ॥ ६ ॥
ब्रूहि साङ्गं धर्मरूपं सरहस्यं सलक्षणम् ।
कर्मज्ञानोपासनानां तत्त्वञ्चाऽपि पृथक् पृथक् ॥ ७ ॥
निवृत्तिधर्म्मरूपस्य सन्न्यासस्य च तत्त्वतः ।
प्रशंसार्हस्य तत्त्वज्ञ! निर्णयं वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

आपसे भक्तिपूर्वक प्रश्न करते हैं, आप हमें जानने योग्य सब कुछ स्पष्टतया कहकर हम जिज्ञासुओंपर दया करें। मनुष्योंके लिये धर्मतत्त्व दुर्बोध और दुर्गम हो रहा है, वेदकी अनेक शाखाएँ हैं और उनका जानना सहज नहीं ऐसा कहा जाता है॥ १–३॥ अनेक पुराण तथा स्मृतियाँ और दर्शन हैं। वे अपने विभिन्न मत पृथक् पृथक् प्रकट कर रहे हैं ॥४॥ आचार्य अनेक हैं और उनके मत भी विभिन्न हैं अतः हम तत्त्वको जाननेमें असमर्थ हैं ॥५॥ विधाताने आप जैसे ज्ञानसागरको हमें दिखा दिया है। इसीसे हम आपसे पूछते हैं। आप हम शरणागतोंको समझाइये ॥६॥ आप अङ्गोंसहित, रहस्य-सहित और लक्षणोंसहित धर्मके स्वरूपको एवं कर्म, उपासना तथा ज्ञानके तत्त्वको पृथक् पृथक् कहिये। हे तत्त्वज्ञ! प्रशंसा करने योग्य निवृत्ति धर्म्मरूप संन्यास तत्त्वका निर्णय कथन करनेमें

अनुकम्पासमुद्रोऽसि विश्रुतो जगतीतले ।
तथोपदिश्यतां ब्रह्मन् ! कृपया परयान्वितः ॥ ९ ॥
यथा श्रुतौ दर्शनेषु पुराणेषु स्मृतिष्वपि ।
यद्वेद्यं वास्तवं वस्तु विज्ञातं स्यादशेषतः ॥ १० ॥
कृतार्थयास्मज्जननं पूरयस्व मनोरथान् ।
नृणां निःश्रेयसायैव दर्शनं स्याद्भवादृशाम् ॥ ११ ॥
जैमिनेर्मुनिवर्य्यस्य वचसा मुदितो भृशम् ।
याज्ञवल्क्यो महातेजाः प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

प्रीतोऽस्मि मुनिशार्दूल ! ज्ञातं युष्मत्समीप्सितम् ।
नूनं विश्वहितायैव प्रश्नोऽयं मुनिसत्तम ! ॥ १३ ॥
यावत्कालं प्रवत्स्यामि तीर्थेऽस्मिन् व्रतमास्थितः ।
तावद्वक्ष्ये यथाकालं तत्त्वं वेदादिनिश्चितम् ॥ १४ ॥

आप समर्थ हैं ॥ ७—८ ॥ आप दयासागर हैं, संसारमें प्रसिद्ध हैं, इसलिये हे ब्रह्मन् ! आप विशेष कृपा करके ऐसा उपदेश कीजिये जिससे वेद, दर्शन, पुराण और स्मृतियोंमें जो कुछ वास्तवमें जानने योग्य है, उसका सम्पूर्णरूपसे हमें ज्ञान हो जाय ॥ ९-१० ॥ हमारे जन्मको आप कृतार्थ करें और मनोरथोंको पूर्ण करें। आप जैसोंका दर्शन निःसन्देह मनुष्योंके कल्याणके लिये ही होता है ॥ ११ ॥ मुनिवर जैमिनीके वचनोंसे अत्यन्त प्रसन्न होकर महान् तेजस्वी महर्षि याज्ञवल्क्य हंसकर बोले ॥ १२ ॥

हे मुनिशार्दूल ! मैं आपसे प्रसन्न हूं, आपकी इच्छा मुझे ज्ञात हुई है। हे मुनिश्रेष्ठ ! आपका यह प्रश्न जगत्का कल्याण करनेके लिये है ॥ १३ ॥ जबतक इस तीर्थमें मैं व्रती होकर रहूँगा तबतक समय समयपर वेद आदिसे निश्चित तत्त्वका कथन करूंगा और क्रमशः शास्त्रोंके तत्त्वोंको अधिकार भेदानुसार सुनाता हुआ

यथाधिकारं सर्वाणि शास्त्रतत्त्वान्यहं क्रमात्।
श्रावयन्नपनेष्यामि युष्माकं सर्वसंशयान्॥ १५॥
यच्चाऽहमभिधास्यामि तदग्रे ख्यातिमेष्यति।
नाम्ना सन्यासगीतेति सारभूता श्रुतेः क्षितौ॥ १६॥
पठनाच्छ्रवणाद्यस्या जिज्ञासुश्छिन्नसंशयः।
ईशिष्यते मुक्तिपदप्राप्तये नाऽत्र संशयः॥ १७॥
अन्येऽपि यदि सन्देहा भवेयुर्मनसि स्थिताः।
तदाख्येयास्तेऽपि सर्वे निर्विशङ्कं ममाग्रतः॥ १८॥

जैमिनिरुवाच।

भगवन्! सर्वधर्मज्ञ! ब्रूहि धर्मस्य लक्षणम्।
के हि साधारणा धर्मा विशिष्टाः के च कीर्तिताः॥ १९॥
कियन्ति धर्मस्याङ्गानि विस्तरेण वदस्व नः।
यथा नराः परं श्रेय इह च प्रेत्य चाप्नुयुः॥ २०॥

याज्ञवल्क्य उवाच

यतोऽभ्युदयमुत्कृष्टमैहलौकिकमाप्नुयुः।
हितश्चाऽऽमुष्मिकं निःश्रेयसं धर्मः स कीर्तितः॥ २१॥

आपके सब सन्देहोंको दूर करूंगा॥ १४-१५॥ जो कुछ मैं कहूंगा, वह श्रुतिकी सारस्वरूप सन्यासगीताके नामसे आगे पृथ्वीपर प्रसिद्ध होगी। जिसके पढ़ने सुननेसे जिज्ञासुके सन्देह दूर हो जायँगे और निःसन्देह वह मुक्तिपद प्राप्तिके लिये समर्थ हो जायगा॥ १६-१७॥ इनके अतिरिक्त और भी यदि कोई सन्देह आपके मनमें हों तो वे भी सब मेरे आगे निःशङ्क होकर कहें॥ १८॥

महर्षि जैमिनी बोले-हे सब धर्मोंके जाननेवाले भगवन्! आप धर्मके लक्षणको कहिये। साधारण धर्म कौनसे हैं, विशेष धर्म कौनसे कहे गये हैं, धर्मके अङ्ग कितने हैं, यही हमें विस्तारसे कहिये। जिससे मनुष्योंको इहलोकमें और परलोकमें परम श्रेय प्राप्त हो॥ १९-२०॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले-जिससे इहलोकमें उत्कृष्ट अभ्युदय और परलोकमें सुख एवं मोक्ष प्राप्त होता है, वही धर्म कहा गया

श्रुतिस्मृत्युदितो धर्म्मस्त्वधर्मस्तद्विपर्य्ययः।
यतः स्वर्गश्च मोक्षश्च स धर्म्मो विदुषां मतः॥ २२॥
धर्मात्प्रवर्द्धते सत्त्वं पुरुषार्थप्रवर्द्धनम्।
जगद्धारणहेतुत्वाद्धर्मत्वं तस्य चेष्यते॥ २३॥
प्रकाशकत्वात्सत्त्वस्य ज्ञानहेतुत्वमीर्य्यते।
लघुत्वादूर्ध्वनेतृत्वं सत्त्वाद्धर्मो हि निर्गभौ॥ २४॥
स्वतः सत्त्वाभिवृद्धिर्यैर्मनोवाक्कायकर्मभिः।
तानि सर्वाणि कर्माणि धर्म इत्येष निर्णयः॥ २५॥
धर्म्याचाररतः सत्त्वं वर्द्धयन् परमोन्नतिम्।
ऐहिकीमामुष्मिकीं च प्राप्य मोक्षं ततोऽश्नुते॥ २६॥
धर्म्मं यो बाधते धर्मो कुधर्मः स हि वस्तुतः।
अविरोधी तु यो धर्म्मः स धर्मो मुनिपुंगवाः!॥ २७॥

है॥ २१॥ जिसका उदय श्रुतिस्मृतिसे हुआ है, वह धर्म और उससे विपरीत अधर्म है। जिससे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ज्ञानियोंके मतसे वही धर्म है॥ २२॥ धर्मसे पुरुषार्थकी वृद्धि करने वाला सत्त्वगुण बढ़ता है और जगत्‌को धारण करनेके कारण ही उसे धर्म कहते हैं॥ २३॥ धर्म सत्त्वगुणका प्रकाशक होनेसे ज्ञानका कारण है और सूक्ष्म होनेसे सत्त्वके ही कारण वह उन्नतिकारी है। जो मन, वाणी और कायासे किये हुए कर्म स्वयं सत्त्वकी अभिवृद्धि करें, वे सब कर्म ही धर्म हैं, ऐसा निर्णय किया गया है॥ २४--२५॥ धर्माचरणमें रत मनुष्य सत्त्व गुणको बढ़ाता हुआ ऐहिक और पारलौकिक परम उन्नतिको प्राप्त करनेपर मोक्ष पाता है *॥ २६॥ जो धर्म दूसरे धर्मका बाधक

* सत्त्वगुण वर्द्धक धर्म्मकी उत्तरोत्तर तीन दशाएँ वर्णन की गई हैं। पहली दशामें धर्म प्रथम अधिकारीको इस लोकके सुख देता है, दूसरी दशामें मध्यम अधिकारीको धर्म स्वर्गादि पारलौकिक सुख देता है और अन्तिम दशामें सर्वोत्तम अधिकारीको धर्म निर्वाण मुक्तिपदमें पहुंचा देता है। यथाक्रम ये तीनों अधिकार समझे जायं।

उक्तः सामान्यधर्मोऽयं विशिष्टस्त्वतिरिच्यते ।
अधिकारिविभेदेन स ह्यनेकविधः स्मृतः ॥ २८ ॥
सधवाविधवादीनां स्त्रीणां भेदस्य दर्शनात् ।
प्रत्येकं भिद्यते धर्मस्तथा पुंस्वपि सर्वथा ॥ २९ ॥
मूर्खपण्डितसंन्यस्तगृहस्थादिविभेदतः ।
सर्वेषामेव प्रत्येकं धर्माः प्रोक्ताः पृथक् पृथक् ॥ ३० ॥
सर्वत्र व्यापकादस्मात् सर्वजीवहितैषिणः ।
धर्मात् सनातनादेव सर्वे धर्म्माः समुत्थिताः ॥ ३१ ॥
सनातने ह्यार्यधर्मे वैदिकाचारपालना ।
सदाचारसतीधर्माध्यात्मतत्त्वविचारणा ॥ ३२ ॥
वर्णाश्रमाधीनकर्मविभागश्चाऽत्र विद्यते ।
अस्मादन्योऽनार्यधर्म इत्यस्मच्छास्त्रनिश्चयः ॥ ३३ ॥

हो, वह वास्तवमें कुधर्म है। हे मुनिश्रेष्ठो! जो धर्म किसीसे विरोध नहीं रखता, वही सच्चा धर्म है ॥ २७ ॥ † यह सामान्य धर्म कहा गया है, विशेष धर्म पृथक् है। जो अधिकारिभेद-से अनेक प्रकारका होता है। स्त्रियोंमें सधवा और विधवा इस प्रकारसे भेद देख पड़ते हैं, अतः उनके धर्म भी विभिन्न हैं। यही बात पुरुषोंकी है। मूर्ख और पण्डित, सन्यासी और गृहस्थ इस प्रकारके जो पुरुषमें भेद हैं, तदनुसार उनके धर्म भी अलग अलग कहे गये हैं ॥ २८-३० ॥ सनातनधर्म सर्वजीव-हितकारी और सर्वव्यापक होनेके कारण इसीसे संसारके सब धर्म निकले हैं ॥ ३१ ॥ सनातन आर्यधर्ममें वैदिक आचारोंका पालन होता है एवं सदाचार, सतीधर्म और आध्यात्मिक तत्त्वोंका विचार रक्खा गया है ॥ ३२ ॥ और इसमें वर्णाश्रमके अनुसार कर्म्म विभाग किया गया है। इसीसे यह आर्यधर्म और इससे भिन्न अनार्य धर्म्म है, ऐसा हमारे शास्त्रोंका निश्चय है ॥ ३३ ॥ जो इस

---

† यही सर्वव्यापक सर्वजीव हितकारी सनातनधर्मका लक्षण है।

यैवं सदाचारवर्णाश्रमधर्मानुगामिनी ।
सर्वस्वं मनुते वेदं साऽऽर्य्यजातिरिति स्मृतिः ॥ ३४ ॥
एतद्भिन्नाऽनार्य्यजातिः सदाचारादिवर्जिता ।
अन्यदप्येवमेवोह्यं नोच्यते विस्तृतेर्भयात् ॥ ३५ ॥
अङ्गानि त्रीणि धर्मस्य दानं यज्ञस्तपस्तथा ।
स्कन्धरूपाणि धर्मस्य शाखिनः पावनानि हि ॥ ३६ ॥
दानञ्चापि त्रिधा प्रोक्तं विद्याऽर्थाऽभयदानतः ।
तत्रापि गुणभेदेन नवधा दानमीर्यते ॥ ३७ ॥
एवं तपस्त्रिधा ज्ञेयं कायिकं वाचिकं तथा ।
मानसञ्चाथ गुणतः प्रत्येकं त्रिविधं पुनः ॥ ३८ ॥
यज्ञधर्मविभेदास्तु मुनीनां बहवो मताः ।
कर्मज्ञानोपासनाख्या भेदा मुख्यास्त्रयः स्मृताः ॥ ३९ ॥
कर्मयज्ञस्य षड् भेदा नित्यं नैमित्तिकं तथा ।
काम्यमाध्यात्मिकं चैवाऽऽधिदैवञ्चाधिभौतिकम् ॥ ४० ॥

प्रकारसे सदाचार और वर्णाश्रमधर्मका अनुसरण करती हो एवं वेदको ही अपना सर्वस्व समझती हो, स्मृतिके मतसे वही आर्य्य जाति है ॥ ३४ ॥ इससे भिन्न अनार्य्य जाति है जो सदाचारसे रहित है। इसी प्रकार अन्य बातें भी जान लेनी चाहिये जो विस्तारके भयसे यहां पर नहीं कही जा सकतीं ॥ ३५ ॥ धर्मरूपी वृक्षके पवित्र स्कन्धस्वरूप दान, यज्ञ और तप इस प्रकारसे तीन अङ्ग हैं ॥ ३६ ॥ दान भी तीन प्रकारके होते हैं। विद्यादान, अर्थदान और अभय दान। इनमेंसे हर एककी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक गुण-भेदानुसार गणना करनेसे दान सब मिलकर नौ प्रकारका होता है। ॥३७॥ इसी प्रकारसे तप भी त्रिविध होता है, यथा—कायिक, वाचिक और मानसिक। इनमेंसे हर एक सात्त्विकादि गुण भेदानुसार त्रिविध होनेके कारण सब मिलाकर तप भी नौ प्रकारका होता है। ॥ ३८ ॥ यज्ञ धर्मके भेद मुनियोंके मतसे अनेक हैं, किन्तु उनमें कर्म-यज्ञ, उपासना-यज्ञ और ज्ञानयज्ञ ये ही तीन मुख्य कहे गये हैं ॥ ३९ ॥ कर्म यज्ञके छः भेद हैं, यथा—नित्य, नैमित्तिक,

सत्त्वादिगुणयोगेन भेदास्तत्रापि पूर्ववत् ।
अतोऽष्टादशधा कर्म प्रत्येकं गुणयोगवः ॥ ४१ ॥

तथैवोपासनायज्ञो मुनिभिर्बहुधा मतः ।
परं मुख्यप्रभेदास्तूपासनापद्धतेरिमे ॥ ४२ ॥

उपास्तिर्ब्रह्मणस्त्वाद्या द्वितीया सगुणस्य च ।
तृतीया स्मर्यते लीलाविग्रहोपासना बुधैः ॥ ४३ ॥

चतुर्थी पितृदेवर्षिगणानामस्त्युपासना ।
अन्तिमा क्षुद्रदेवानां प्रेतादीनां विधीयते ॥ ४४ ॥

अन्येऽपि तस्याश्चत्वारो भेदाः साधनपद्धतेः ।
तत्रादिमो मन्त्रयोगः स्थूलध्यानैकसाधनः ॥ ४५ ॥

द्वितीयो हठयोगः स्याज्ज्योतिर्ध्यानैकसाधनः ।
लययोगस्तृतीयोऽसौ बिन्दुध्यानविधानकः ॥ ४६ ॥

राजयोगोऽन्तिमस्तत्र ब्रह्मध्यानं विधीयते ।
भेदा नवानामप्येषां गुणतः सप्तविंशतिः ॥ ४७ ॥

काम्य, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ॥ ४० ॥ पूर्ववत् सात्त्विकादि गुण भेदानुसार हर एक कर्म तीन तीन प्रकारका होनेसे सब कर्म अठारह प्रकारके हैं ॥ ४१ ॥ इसी तरह मुनियोंने उपासना-यज्ञ भी अनेक प्रकारके कहे हैं; परन्तु उपासना पद्धतिके मुख्य भेद निम्न लिखित हैं ॥ ४२ ॥ पहिली ब्रह्मोपासना, दूसरी सगुणोपासना, तीसरी अवतारोपासना, चौथी पितृगण, देवगण और ऋषिगणकी उपासना एवं पांचवीं प्रेतादि क्षुद्र देवोंकी उपासना विज्ञ पुरुषोंने कही है ॥ ४३—४४ ॥ इनके अतिरिक्त उपासनाकी साधनपद्धतिके और भी चार भेद हैं। उनमें प्रथम मन्त्रयोग है, जिसका साधन स्थूल ध्यानसे होता है। दूसरा हठयोग है, जिसका साधन ज्योतिके ध्यानसे होता है। तीसरा लय योग है, जिसमें बिन्दु ध्यान करनेकी विधि है और चौथा राजयोग है, जिसमें ब्रह्मका ध्यान किया जाता है। इस प्रकारकी नवविध उपासनाके सात्त्विकादि गुणानुसार २७ भेद हैं ॥ ४५—४७ ॥

श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च ।
त्रिधैवं ज्ञानयज्ञोपि नवधा स्याद्गुणाश्रयात् ॥ ४८ ॥
इत्यन्वशासुर्धर्मस्य मुख्यान् भेदानशेषतः ।
चतुर्विंशतिसंख्याकान् मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ४९ ॥
एतेषामपि धर्माङ्गभेदानां गुणभेदतः ।
भेदा द्विसप्ततिर्भूयो भवन्तीति विभाव्यताम् ॥ ५० ॥
एषु जीवहितायैकमप्यङ्गं यद्यनुष्ठितम् ।
व्यष्टिबुद्ध्या नरैरत्र यज्ञ इत्युच्यते तदा ॥ ५१ ॥
समष्ट्या सर्वजीवानां हिताय यदनुष्ठितम् ।
एकञ्चापि तदा तच्च महायज्ञ इतीर्य्यते ॥ ५२ ॥
सत्त्वेन सेवितं ह्येकमप्यङ्गं पूर्णरूपतः ।
प्रापयत्येकमप्येतन्नरं मुक्तिपदं क्षणात् ॥ ५३ ॥
यथा स्फुलिंगश्चैकोपि विश्वन्दहति सेन्धनः ।
एवं दहत्येकमङ्गमपि कर्माणि सर्वशः ॥ ५४ ॥

ज्ञान यज्ञ भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन इस प्रकारसे त्रिविध हैं और हरएक सात्त्विकादि गुण भेदानुसार त्रिविध होनेसे ज्ञानयज्ञ नौ प्रकारका कहा जाता है ॥ ४८ ॥ तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस प्रकारसे धर्मके सम्पूर्ण भेदोंमेंसे मुख्य २४ भेद बताये हैं। धर्माङ्गोंके इन २४ भेदोंके सात्त्विकादि गुणानुसार ७२ भेद होते हैं, यह समझ लेना चाहिये ॥ ४९—५० ॥ यदि मनुष्य जीवके हितके लिये व्यष्टि बुद्धि अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिके कल्याणके विचारसे इनमेंसे एक भी अङ्गका अनुष्ठान करे, तो उसे यज्ञ कहते हैं। और समष्टि बुद्धिसे सब जीवोंके हितके लिये यदि मनुष्य इनमेंसे किसी एकका अनुष्ठान करे, तो उसे महायज्ञ कहते हैं ॥ ५१—५२ ॥ सात्त्विक भाव रखकर इनमेंसे एक भी अङ्गका यदि पूर्णरूपसे पालन किया जाय, तो वह मनुष्यको क्षणमात्रमें मुक्तिपदको पहुंचा सकता है ॥ ५३ ॥ जैसे एक ही चिनगारी, इन्धनयुक्त होनेसे समस्त विश्वको जला देती है, वैसा धर्मका एक ही अङ्ग सब

अहिंसाज्ञानयोगादिधर्मोपाङ्गाश्रयेण ह ।
जगत्यां बौद्धधर्मोऽपि प्रथितः प्रचलिष्यति ॥ ५५ ॥
तथा द्वीपान्तरेष्वेवं केतुमालादिषु क्वचित् ।
वर्षेषु सत्यता स्वार्थत्यागिता च गुणादरः ॥ ५६ ॥
ज्ञानार्जनस्पृहा नित्यं नियमानाञ्च पालनम् ।
इमाः सर्वा भविष्यन्ति प्रशस्ता धर्मवृत्तयः ॥ ५७ ॥
यासामालम्बनादेव पाश्चात्याः परमोन्नताः ।
माननीयत्वमेष्यन्ति जगत्यां सुप्रतिष्ठिताः ॥ ५८ ॥
पितॄणां गुरुवृद्धानां शुश्रूषा राजभक्तता ।
धैर्यञ्च ब्रह्मचर्यञ्च क्षात्रधर्मानुरागिता ॥ ५९ ॥
इत्यादिकतिचिद्धर्मवृत्तिवाहुल्यसेवनात् ।
प्रख्यास्यति जयप्राणो देशः स्वल्पोपि भूतले ॥ ६० ॥
अत एवान्यदेशीयाः परोत्कर्षासहिष्णवः ।
अर्चिष्यन्ति तथाऽप्येनं केतुमालादिवासिनः ॥ ६१ ॥
तदैवं प्रतिपद्यध्वे विमृश्येत क्षणं यदि ।
ता धर्मवृत्तयोऽप्यस्मद्धर्म्मोपाङ्गानि सन्ति हि ॥ ६२ ॥

कर्मोंको भस्म कर देता है ॥ ५४ ॥ धर्मके अहिंसा और ज्ञान योगादि उपाङ्गोंका ही आश्रय करनेसे संसारमें बौद्ध धर्म प्रसिद्ध होकर फैलेगा ॥ ५५ ॥ इसी तरह कहीं कहीं केतुमालादि द्वीपान्तरोंमें भी सत्यता, स्वार्थत्यागिता, गुणग्राहकता, ज्ञानसम्पादनकी इच्छा, नित्य नियमोंका पालन ये सब प्रशस्त धर्म वृत्तियां उदित होंगी ॥ ५६–५७ ॥ जिनके अवलम्बनसे पश्चिमी लोग संसारमें भलोभांति प्रतिष्ठित और अत्यन्त उन्नत होकर माननीय बनेंगे ॥ ५८ ॥ इनके अतिरिक्त माता पिता और वृद्ध गुरुजनोंकी सेवा, राजभक्ति, धैर्य, ब्रह्मचर्य, क्षात्रधर्ममें अनुराग इत्यादि कई एक धार्मिक वृत्तियोंका अधिक अभ्यास करनेसे छोटा भी जयप्राणदेश पृथ्वीमें प्रसिद्ध हो जायगा । अतएव दूसरोंका उत्कर्ष सहन न करनेवाले अन्यदेशीय केतुमलादिवासी इस देशके निवासियोंका आदर करने लगेंगे ॥ ५९–६१ ॥ अतः क्षणमात्र विचार किया जाय, तो सिद्ध होगा कि, उक्त

कानि कस्येति कथ्यन्ते धर्म्मोपाङ्गानि तत्त्वतः।
तपसो मानसस्याहुः सत्यं वै मुनिसत्तमाः ॥ ६३ ॥
तथा कलिप्रधानस्य दानस्य स्वार्थत्यागिता।
पितृपूजोपासनायाः क्षात्रं कर्म तु कर्मणः ॥ ६४ ॥
समष्टिरूपेणैतानि देशजात्यर्थकानि चेत्।
महायज्ञोपाङ्गभावं भजन्तीति विभाव्यताम् ॥ ६५ ॥
अवस्थाभेदतश्चैका धर्मस्य वृत्तिरास्वपि।
भवेद्विभिन्नधर्माङ्गोपाङ्गमित्यपि बुध्यताम् ॥ ६६ ॥
मनोवृत्त्या सह स्वार्थत्यागः सम्बध्यते यदा।
तपसः खलु जानीहि तमुपाङ्गं तदा मुने ॥ ६७ ॥
त्यागोऽसौ चेत्प्रकाश्येत यशोऽर्थे दानिना स्वयम्।
तदा स्याद्दानधर्मस्योपाङ्गमेव न संशय ॥ ६८ ॥
एवं विज्ञानवित्कश्चिद्यदि पश्येत् समाहितः।
तदा निश्चिनुयादस्मद्धर्मस्योत्तमतां क्षणात् ॥ ६९ ॥

धर्म-वृत्तियाँ हमारे धर्मकी उपाङ्ग ही हैं ॥ ६२ ॥ अब धर्मके किस अङ्गके कौनसे उपाङ्ग हैं, सो सात्त्विक रीतिसे कहे जाते हैं। हे मुनिश्रेष्ठों! मानसिकतपका उपाङ्ग सत्य है। कलिकालके विचारसे प्रधान धर्माङ्ग दानका उपाङ्ग स्वार्थत्याग है। उपासनायज्ञका उपाङ्ग पितृपूजा है। कर्मयज्ञका उपाङ्ग क्षात्रधर्म है। समष्टि रूपसे देश और जातिके लिये किये जाते हों, तो येही उपाङ्ग महायज्ञके भावको प्राप्त होते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ ६३-६५ ॥ यहां पर यह भी समझ लेना चाहिये कि, अवस्थाभेदसे धर्मकी एक ही वृत्ति विभिन्न धर्माङ्गकी उपाङ्ग बन जाती है ॥ ६६ ॥ मनोवृत्तिके साथ जब स्वार्थत्यागका संबन्ध हो जाता है, तब हे, मुने! उसे निश्चयसे तपका ही उपाङ्ग जानो ॥ ६७ ॥ दानी यदि वही त्याग यशकी इच्छासे स्वयं प्रकट करे, तो इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि, वह त्याग दान धर्मका उपाङ्ग होगा ॥ ६८ ॥ इस प्रकारसे कोई विज्ञानवेत्ता यदि सावधान होकर देखे, तो वह हमारे धर्मकी उत्तमताका क्षणमात्रमें निश्चय कर लेगा ॥ ६९ ॥ पृथ्वीपर जुदे जुदे

भूमौ विभिन्नधर्माणामाचार्याः सर्व एव हि ।
ते सनातनधर्माङ्गसाहाय्यं प्रतिपेदिरे ॥ ७० ॥

धृतिर्दानं क्षमाऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो धर्मसामान्यवृत्तयः ॥ ७१ ॥

एताः सर्वान्यधर्मेषु सर्वास्वखिलजातिषु ।
सर्वमर्त्यसमाजे च व्याप्ताः सन्तीति मन्यताम् ॥ ७२ ॥

अत एवास्य धर्मस्य गरीयस्त्वं सुसिद्ध्यति ।
सर्वधर्मप्रसविता ततश्चैषोऽत्र गीयते ॥ ७३ ॥

यं पृथक् धर्मचरणाः पृथक् धर्मफलैषिणः ।
पृथक् धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥ ७४ ॥

इति श्रीसंन्यासगीतायां साधारणधर्म्मनिरूपणं नाम
द्वितीयोऽध्यायः ।

धर्मोंके सभी आचार्य सनातनधर्मके किसी न किसी अङ्गकी सहायतासे अपने धर्मका प्रतिपादन करते हैं ॥ ७० ॥ धैर्य, दान, क्षमा, चोरी न करना, पवित्र रहना, इन्द्रियोंका निग्रह करना, बुद्धि बढ़ाना, विद्या पढ़ना, सत्यका पालन करना और क्रोध न करना ये तो धर्मकी सामान्य वृत्तियाँ हैं ॥ ७१ ॥ ये सभी अन्य धर्मोंमें, सब जातियोंमें और सब मनुष्य समाजमें व्याप्त हैं, ऐसा मानना ही होगा ॥ ७२ ॥ इसीसे इस सनातनधर्मकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है और इससे सब धर्मोंका यह जनक है ऐसा प्रसिद्धि है ॥ ७३ ॥ विभिन्न धर्मोंका आचरण करने वाले और विभिन्न धर्मोंके फलोंकी इच्छा करने वाले विभिन्न धर्मोंसे जिसकी पूजा करते हैं, उस धर्मस्वरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यास गीताका साधारण धर्म्मनिरूपण नामक
द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

जैमिनिरुवाच ।

व्याख्यातं कृपया ब्रह्मन् धर्मतत्त्वविदा त्वया ।
साङ्गं धर्मं समाकर्ण्य सञ्जाताश्छिन्नसंशयाः ॥ १ ॥
अथाख्याहि मुने ! दान-धर्म्मतत्त्वमशेषतः ।
यस्मिन् ज्ञाते नराः सर्वे लभेरन् परमं हितम् ॥ २ ॥
ऋषीणां तद्वचः श्रुत्वा याज्ञवल्क्यो मुनीश्वरः ।
कृपया परयाविष्टः प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

श्रूयतां दानधर्मस्य रहस्यं मुनयोऽधुना ।
त्रीण्यङ्गानीह धर्मस्य दानं यज्ञस्तपस्तथा ॥ ४ ॥
त्रिष्वप्यंगेषु धर्मस्य दानमेकं विशिष्यते ।
विशेषतः कलावेतत्प्रधानं हितसाधनम् ॥ ५ ॥
निर्विशेषतया सर्वे यतो दानेऽधिकारिणः ।
तस्माद्दानं प्रशंसन्ति सर्वशास्त्रविशारदाः ॥ ६ ॥

महर्षि जैमिनी बोले हे धर्मतत्त्वके जाननेवाले ब्रह्मज्ञ ! आपने कृपा करके अंगोंसहित धर्म कहा उसको सुनकर हमारे सन्देह मिट गये ॥ १ ॥ अब हे मुने ! दान धर्मके तत्त्वको सम्पूर्णरूपसे कहिये, जिसके जान लेनेसे सभी मनुष्योंका कल्याण होगा ॥ २ ॥ ऋषियों-का यह वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य परमकृपालु होकर हंसते हुए बोले ॥ ३ ॥

हे मुनिगण ! अब दान धर्मका रहस्य सुनिये। धर्मके दान यज्ञ और तप इस प्रकारसे तीन अंग हैं ॥४॥ धर्मके उक्त तीनों अंगों-में प्रथम अङ्ग दान श्रेष्ठ है। विशेषतया कलियुगमें तो यही सर्व-प्रधान कल्याणका साधन है ।५॥ साधारणतया सभी दान करनेके अधिकारी हैं इसीसे सब शास्त्रोंके ज्ञातागण दानकी प्रशंसा करते हैं ।।६॥ हे मुनिगण ! अपना सम्बन्ध छोड़कर जो कुछ

स्वसम्बन्धमपाकृत्य यदन्यस्मै प्रदीयते।
तद्दानमिति सामान्यलक्षणं मुनयो विदुः ॥ ७ ॥

तत्रापि दत्तवस्तुभ्यः सम्बन्धं मानसं स्वतः।
सर्वथा क्षपयेद्योऽसौ स वदान्यशिरोमणिः ॥ ८ ॥

अतीव दुष्करन्त्वेतत्कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः।
यदपाक्रियते चित्तसम्बन्धश्चिरसम्भृतः ॥ ९ ॥

सुसाधितं सर्वमेव दानिना तेन भूतले।
सुपात्रे दत्तवस्तुभ्यश्चित्तं यस्य निवर्तते ॥ १० ॥

अन्ये धर्माः कष्टसाध्यास्तपोयज्ञादयः क्षितौ।
बहुश्रमेण सिद्ध्यन्ति मनोवाक्कायनिग्रहात् ॥ ११ ॥

सुखसाध्यं दानमेव सर्वधर्मेषु कीर्तितम्।
दीयते देयमुत्थाप्य हस्तेनेयान् श्रमस्त्विह ॥ १२ ॥

दानमर्थस्य विद्याया अभयस्येति च द्विजाः।
इत्येवं त्रिविधं दानं मया पूर्वमुदीरितम् ॥ १३ ॥

दूसरोंको दिया जाता है, उसे दान कहते हैं और दानका यही सामान्य लक्षण है ॥ ७ ॥ फिर भी दी हुई वस्तुसे जो अपना मानसिक सम्बन्ध सब प्रकारसे छोड़ देता है, वह दानियोंमें श्रेष्ठ है ॥८॥ परन्तु चिरकालसे संलग्न चित्तके सम्बन्धको छोड़ देना, यह कर्म अत्यन्त कठिन है, ऐसा विद्वानोंका मत है ॥ ९ ॥ सुपात्रमें दान की हुई वस्तुसे जिसका चित्त हट जाय, उस दानी पुरुषको पृथ्वीपर जो कुछ साधना था, वह उसने साध लिया ऐसा जानना चाहिये ॥ १० ॥ पृथ्वीपर तप यज्ञादि जो अन्य धर्म हैं, वे अत्यन्त कष्टसाध्य हैं जो अत्यन्त परिश्रमसे मन, वाणी और शरीरका निग्रह करनेपर साध्य होते हैं; परन्तु सब धर्मोंमें दान ही सहज साध्य कहा गया है; क्योंकि इसमें देनेकी वस्तु हाथ उठाकर दे दी जाती है, केवल इतनाही श्रम होता है ॥ ११-१२ ॥ हे द्विजो! अर्थदान, विद्यादान और अभय दान इस प्रकारसे त्रिविध दान होता है, यह मैं पहले कह चुका हूं ॥ १३ ॥ जब सद्गुरु

भवत्यभयदानं तद्गुरुणा करुणावशात् ।
संसारभयनाशाय सम्यग् यदुपदिश्यते ॥ १४ ॥

संसारभयसंत्रस्तजीवानामबिभीषताम् ।
शक्ताः सद्गुरवस्तत्र भयं मुख्यं व्यपोहितुम् ॥ १५ ॥

यस्मात्सर्वेऽभयं दातुं नैव शक्ताः क्षितौ जनाः ।
तस्मादनुपयोगित्वाद्दानमेतदुपेक्ष्यते ॥ १६ ॥

विद्यादानञ्चार्थदानभाज्ञोच्येते ततोऽधुना ।
तत्र पूर्वं ब्रह्मदानापरपर्य्यायमुच्यते ॥ १७ ॥

कायेन मनसार्थेन विद्यावृद्धिमिहेच्छता ।
यद्दानं दीयते सम्यक् ब्रह्मदानं तदीर्य्यते ॥ १८ ॥

स्थापनं पाठशालानां महाविद्यालयस्य च ।
दुर्लभप्राक्तनानर्घ्यपुस्तकानां प्रकाशनम् ॥ १९ ॥

तथा विरचनं नव्यग्रन्थानामुपयोगिनाम् ।
दानञ्च पुस्तकादीनां विद्यार्थिभ्योऽथ पाठनम् ॥ २० ॥

करुणायुक्त होकर संसारका भय नाश करनेके लिये उत्तम उपदेश करते हैं, तब उसे अभय दान कहते हैं ॥ १४ ॥ संसारभयसे व्याकुल और अभय चाहनेवाले जीवोंके मुख्य भयका नाश करनेके लिये सद्गुरु ही समर्थ हैं ॥ १५ ॥ परन्तु पृथ्वीपर सभी लोग अभय दान देनेमें समर्थ नहीं हैं अतः सर्वसाधारणके पक्षमें इसकी विशेष उपयोगिता न होनेके कारण इस दानके विषयमें साधारणतः उपेक्षा की जाती है ॥१६॥ विद्यादान एवम् धन दानकी यहाँपर आलोचना की जाती है। दोनोंमें प्रथम विद्यादान है और इसीको ब्रह्मदान भी कहते हैं ॥ १७ ॥ काया, मन और धन द्वारा विद्यावृद्धिकी इच्छासे जो दान दिया जाता है, उसे उत्तम ब्रह्मदान कहते हैं ॥ १८ ॥ पाठशाला और महाविद्यालयोंकी स्थापना करना, दुर्लभ और बहुमूल्य प्राचीन पुस्तकोंका प्रकाश करना ॥ १९ ॥ नवीन उपयोगी ग्रन्थोंका निर्माण करना, विद्यार्थियोंको पुस्तकोंका दान करना, पढ़ाना, सार्वजनिक कल्याणकी बुद्धिसे लेखनशैलियोंका

एवं लेखनशैलीनां हितबुद्धया प्रवर्तनम् ।
ज्ञेयान्येतान्यपि ब्रह्मदानान्तर्भावितानि वै ॥ २१ ॥
हस्त्यश्वरथवस्त्रान्नकन्यारत्नावनीगृहम् ।
दीयते श्रद्धया यत्र चेतनाचेतनात्मकम् ॥ २२ ॥
धनैश्वर्यादिकं सर्वं दीयमानमथार्थिने ।
ऋषिभिः प्रोच्यते सम्यगर्थदानमिति स्फुटम् ॥ २३ ॥
सर्वाण्येतानि दानानि गुणत्रयविभागतः ।
प्रत्येकं त्रिविधानीह भवन्ति द्विजसत्तमाः ॥ २४ ॥
देशकालानुरोधेन पात्रायानुपकारिणे ।
अनीप्सितयशःसौख्यं दीयते तद्धि सात्त्विकम् ॥ २५ ॥
जनः कीर्तिफलाकांक्षी तथा प्रत्युपकारधीः ।
यद्ददात्युपकर्त्रे च दानं तद्राजसं स्मृतम् ॥ २६ ॥
सद्देशकालपात्रादिज्ञानसन्मानवर्जितम् ।
सरोषकष्टं यद्दानं तत्तु तामसमुच्यते ॥ २७ ॥

प्रचार करना ये सभी बातें ब्रह्मदानके अन्तर्गत हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ २०–२१ ॥ हाथी, घोड़ा, गाड़ी, वस्त्र, अन्न, कन्या, रत्न, भूमि, घर आदि जो श्रद्धासे दिया जाता है अर्थात् चेतन या अचेतन धन ऐश्वर्य आदि जो कुछ याचकको दिया गया हो, उसे ऋषिगण स्पष्टतया उत्तम अर्थदान कहते हैं । २२–२३ ॥ हे द्विजश्रेष्ठो ! ये सभी दान तीन गुणोंके भेदसे प्रत्येक त्रिविध होते हैं ॥ २४ ॥ देशकाल–का विचार कर, जिसका अपने ऊपर किसी प्रकारका उपकार न हुआ हो ऐसे पात्रमें यश या सुखकी इच्छा न रखकर दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है ॥ २५ ॥ कीर्तिपानकी इच्छा करनेवाले और उपकारका बदला चाहनेकी बुद्धि रखनेवाले लोग अपने उपकारीको जो दान देते हैं वह राजसिक दान है ॥ २६ ॥ और अच्छे देश, काल एवं पात्रके ज्ञानसे तथा सम्मानसे रहित, क्रोधपूर्वक या दुःखसे जो दान दिया जाता है, उसको तामसिक दान कहते हैं ॥ २७ ॥ हे द्विजगण ! सात्त्विक दानसे ही मुक्ति प्राप्त

सात्त्विकेनैव दानेन मुक्तिः सम्पद्यते द्विजाः ।
राजसेन सुखैश्वर्य्यमिहामुत्र प्रपद्यते ॥ २८ ॥
तामसेनाश्नुते दुःखं कदाचिच्च्यवतेऽप्यधः ।
तस्माद्देयं विचार्य्यैव दानं सत्त्वगुणोर्जितम् ॥ २९ ॥
क्षुद्रवस्तुप्रदानादिकर्मसामान्यमात्रतः ।
अहो मुक्तिः कथं सिद्ध्येद् दुर्लभा सा तु गीयते ॥ ३० ॥
इत्येवमनुयुञ्जीत संशयानोऽत्र कोऽपि चेत् ।
तदैवं बोधनीयोऽसौ शास्त्रतत्त्वविचक्षणैः ॥ ३१ ॥
सम्पद्यते कर्मणैव मुक्तिः स्वाचरितेन वै ।
सुनिर्णीतमिदं कर्ममीमांसायां यथायथम् ॥ ३२ ॥
कर्मैव दानमप्येतद्विश्वस्येत स्फुटं यदि ।
यथावच्छास्त्रनिर्दिष्टरीत्यैवानुष्ठितश्च चेत् ॥ ३३ ॥
तत्रापि सत्त्वसंजुष्टं तीव्रश्चापि भवेद्यदि ।
नूनं सम्प्रापयत्येव नरं मुक्तिं न संशयः ॥ ३४ ॥

होती है। राजसिक दानसे इहलोक और परलोकमें सुख एवं ऐश्वर्य मिलता है; परन्तु तामसिक दानसे तो दुःख ही होता है। यही नहीं, किन्तु अधोगति भी प्राप्त होती है। अतः इन बातोंका विचारकर सत्त्वगुणयुक्त दान ही देना चाहिये ॥ २८–२९ ॥ क्षुद्र वस्तुके दान जैसे साधारण कर्मसे भला मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, जो बड़ी दुर्लभ कही गई है ॥ ३० ॥ इस प्रकारका कोई सन्देह कर सकते हैं, परन्तु शास्त्रतत्त्वोंके जानने वालोंको यह समझ लेना चाहिये कि, अपने किये हुए कर्मोंसे ही मुक्ति मिलती है और यह बात कर्ममीमांसामें ठीक तौरसे निश्चित की गई है। ॥ ३१–३२ ॥ दान भी एक कर्म ही है, इस बातपर यदि ठीक विश्वास किया जाय और ठीक ठीक शास्त्रोक्त रीतिसे इसका अनुष्ठान हो और वह अनुष्ठान भी तीव्र सात्त्विक भावसे युक्त हो, तो निःसन्देह ऐसा दान मनुष्यको मुक्ति प्राप्त करा सकता है ॥ ३३–३४ ॥

मुक्तिदत्वे च धर्मस्य तदङ्गञ्चापि मुक्तिदम्।
यस्यांशिनो हि यो धर्मः स तदंशेऽपि लभ्यते ॥ ३५ ॥
यथाग्नेर्दाहकत्वश्चेद्गुणो लोकेऽवलोक्यते।
तदा तस्य स्फुलिङ्गेपि प्रत्यासन्नः स वै गुणः ॥ ३६ ॥
सद्देशकालपात्रादिसाहाय्यश्चेत्समश्नुते।
दहत्येकः स्फुलिङ्गोऽपि वनमार्द्रमपि क्षणात् ॥ ३७ ॥
एवं धर्माङ्गमप्येकं दानञ्चेद्विधिना भवेत्।
तदा तेनाप्यश्नुवीत नरो मुक्तिं न संशयः ॥ ३८ ॥
विज्ञेयं तत्त्वमत्रेदं सर्वशास्त्रार्थनिश्चितम्।
सुगुप्तं सारभूतं च वक्ष्यमाणं मुनीश्वराः ॥ ३९ ॥
यावच्चित्तं मनुष्याणां विषयासक्तिमद्भवेत्।
तावत्तद्वृत्तयश्चान्तःकरणं क्षोभयन्त्यलम् ॥ ४० ॥
यदा स्याद्विषयासक्तिर्विलीना सुतरामिह !।
विलीयन्ते तदाप्येषां वृत्तयश्चापि सर्वशः ॥ ४१ ॥

धर्म मुक्तिदाता होनेसे उसका अंग भी मुक्तिदाता होगा, क्योंकि अंशीका जो धर्म होता है, वह उसके अंशमें भी पाया जाता है। उदाहरण स्थलपर समझ सकते हैं कि, अग्निमें दाह करनेका जो गुण सर्वत्र देखा जाता है, वही गुण अग्निकी एक चिनगारीमें भी रहता है। अच्छे देश, काल और पात्रकी यदि सहायता पा जाय तो वह एक ही चिनगारी हरे भरे बनको भी क्षणमात्रमें भस्म कर देगी ॥ ३५–३७ ॥ इसी प्रकारसे धर्मका एक ही अंग दान, यदि विधिपूर्वक किया जाय, तो उससे भी मनुष्य निःसन्देह मुक्ति पा सकता है ॥ ३८ ॥ हे मुनीश्वरों! अब मैं सब शास्त्रार्थोंसे निश्चित, बहुत गुप्त और सार स्वरूप जो तत्त्व कहूँगा, वह यहांपर जान लेने योग्य है ॥ ३९ ॥ जबतक मनुष्योंका चित्त विषयोंमें आसक्त रहता है तबतक उनकी वृत्तियां अन्तःकरणको क्षुब्ध करती हैं और जब विषयासक्ति नष्ट हो जाती है, तब उनकी वृत्तियां भी विलीन हो जाती हैं। वृत्तियोंका नाश होनेसे मनकी चंचलता क्षणमात्रमें मिट जाती है और चंचलता मिटनेसे चित्त-धारणामें

क्षीयते वृत्तिनाशे च चांचल्यं मनसः क्षणात् ।
नष्टे च चापले चित्तं धारणायां प्रवर्तते ॥ ४२ ॥
तदेतदेव भगवान् योगशास्त्रे सदाशिवः ।
आम्नातवाँ "श्चित्तवृत्तेर्निरोधो योग" इत्यथ ॥ ४३ ॥
आज्ञापयच्च मुदितः परमेण समाधिना ।
"द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं तदा" स्यादिति चाग्रतः ॥ ४४ ॥
नूनमेतेन संसिद्धं यत्पुमान् शंसितव्रतः ।
विषयात्मकवस्तुभ्यश्चित्तवृत्तीर्निवारयन् ॥ ४५ ॥
दद्याद्विषयभूतानि तानि वस्तूनि सर्वथा ।
तदा निश्चापलं चेतः स्थिरता लभते पराम् ॥ ४६ ॥
स्थिरेऽन्तःकरणे जाते स्यात्तच्चैतन्यदर्शनम् ।
तथात्वे च नरो मुक्तिं विन्दत्येव सदा स्थिराम् ॥ ४७ ॥
एवं चैकेनापि दानधर्मेणासाद्यते नरैः ।
सुदुर्लभाऽपि सा मुक्तिः क्षुद्रास्ताः सिद्धयः किमु ॥ ४८ ॥
यद्येकं पणमप्यन्नमल्पं सात्विकभावतः ।
प्रीतो ददाति पात्राय मुक्तिस्तेनाऽपि लभ्यते ॥ ४९ ॥

प्रवृत्त होता है । यही भगवान् सदाशिवने योगशास्त्रमें कहा है कि, चित्तवृत्तिके निरोधको ही योग कहते हैं । भगवान्ने प्रसन्न होकर यह आज्ञा दी है कि, परम समाधिसे द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान हो जाता है ॥ ४०-४४ ॥ इससे यह सिद्ध हुआ कि, पवित्राचारी पुरुष यदि विषयोपभोगकी वस्तुओंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटा कर विषयोंकी वस्तुओंका दान कर दे, तो उसके चित्तसे चञ्चलता दूर होकर वह परमस्थिरताको प्राप्त करेगा ॥ ४५-४६ ॥ अन्तःकरण स्थिर होनेसे उसे चैतन्य दर्शन होगा और ऐसा होनेपर वह सदा निश्चला मुक्तिको प्राप्त करेगा ॥ ४७ ॥ इस प्रकारसे एक दान धर्मसे ही मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ मुक्तिको पा सकता है, फिर क्षुद्र सिद्धियोंकी तो बात ही क्या है ॥ ४८ ॥ यदि एक ही पैसा या थोड़ासा अन्न सात्विक भावसे और प्रसन्न होकर किसी सुपात्रको दिया जाय, तो उससे भी मुक्ति मिल सकती है ॥ ४९ ॥

यदि चेद्रजसाविष्टो वितरेद्विपुलं धनम्।
ऐहिकामुष्मिकं सौख्यमश्नुते मुक्तिमत्र नो ॥ ५० ॥
शुद्धे भावेऽल्पिष्ठदानमप्यनन्तफलं भवेत्।
भावाऽशुद्धौ महद्दानमपि नालं फलाय तत् ॥ ५१ ॥
उक्तं पुरस्ताद्वो विप्रास्तामसेनैति दुर्गतिम्।
तत्राप्येतद्विजानीत तत्त्वमुक्तं यदग्रतः ॥ ५२ ॥
इहामुत्र च संसिद्धिं दातुं दानं यथेश्वरम।
तथैतद्दुर्गतिञ्चापि नरं प्रापयितुं क्षमम् ॥ ५३ ॥
दत्तं हि तामसं दानमपात्रे यत्र पापिनि।
उद्युङ्क्ते स विशेषेण तीव्रे दुष्कृतकर्मणि ॥ ५४ ॥
दातुश्च फलसम्बन्धः पारम्पर्य्यक्रमागतः।
ततोऽसौ तामसो दाता स्यात्तत्पापफलांशभाक् ॥ ५५ ॥
अथ तस्मिन् पापफले प्रवृद्धे तु शनैः शनैः।
अवश्यं दुर्गतिं याति नैव वात्र विचारणा ॥ ५६ ॥

परन्तु यदि राजसिक भावसे बहुतसा धन दान किया जाय, तो इहलोक और परलोकमें सुख प्राप्त होता है, किन्तु उससे मुक्ति नहीं होती ॥ ५० ॥ शुद्ध भावसे दिया हुआ थोड़ा भी दान अनन्त फल-प्रद है और शुद्ध भाव न होनेपर किया हुआ बड़ा भारी दान भी यथार्थ फल उत्पन्न नहीं करता ॥ ५१ ॥ हे विप्रो ! यह जो पहिले कहा जा चुका है कि, तामसिक दानसे दुर्गति होती है, उसमें जो तत्त्व है सो आगे कहता हूँ, उसे आप सुनिये ॥ ५२ ॥ जो दान इहलोक और परलोककी सिद्धि देनेमें समर्थ है, वही मनुष्यको दुर्गतिमें भी पहुँचा सकता है ॥ ५३ ॥ अपात्र पापीको यदि तामसिक दान दिया जाय, तो वह दान लेने वाला तीव्र असत् कर्मकी ओर विशेषरूपसे उद्युक्त होता है ॥ ५४ ॥ परम्पराक्रमसे दाता और प्रति-ग्रहीताका फलसम्बन्ध रहनेके कारण दान लेनेवालेके पापफलका अंशभागी तामसिक दान देनेवाला भी होता ही है ॥ ५५ ॥ फिर वही पाप फल क्रमशः बढ़नेपर दाता दुर्गतिको प्राप्त होता है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥५६॥ इसलिये जिन लोगोंको दान धर्मकी साधना

सिषाधयिषुभिस्तस्माद्दानधर्मं नरैरिह ।
सत्त्वादिगुणमाहात्म्यं विस्मर्तव्यं न कर्हिचित् ॥ ५७ ॥
विद्यालयस्थापनादिब्रह्मदानात्मकान्यथ ।
धनरत्नाद्यर्थदानरूपाण्युत्सर्जनानि च ॥ ५८ ॥
देशकालप्रयुक्तानि योग्यपात्रार्पितानि चेत् ।
संसृज्यन्ते सत्फलेन नान्यथा तु कदाचन ॥ ५९ ॥
तास्मात्सावहिताः सर्वे निशामयत साम्प्रतम् ।
देशकालादिविज्ञानं व्याचष्टेऽहं पृथक् पृथक् ॥ ६० ॥
कस्मिन् देशे हि दातव्यं कुत्रैतद्वस्तु दुर्लभम् ।
क्व चाधिकफलावाप्तिर्देशे दानेन सिद्ध्यति ॥ ६१ ॥
कुत्र दानेनेश्वराज्ञा विहिता स्याद्विशेषतः ।
कस्मिंश्च देशे दानेनाऽधिकं जीवहितं भवेत् ॥ ६२ ॥
इत्येवमसकृत्सर्वं चिन्तयेयुर्यदा धिया ।
तदैवाशु प्रपद्येरन् देशज्ञानं हितप्रदम् ॥ ६३ ॥

करनी हो, उन्हें कभी सत्त्वादि गुणोंके माहात्म्यको भूलना नहीं चाहिये ॥ ५७ ॥ ब्रह्मदानस्वरूप विद्यालय स्थापन आदि और अर्थ-दान-स्वरुप धन रत्न आदिका दान देशकालानुकूल सत्पात्रमें किया हो, तो उसका फल उत्तम ही होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ५८—५९ ॥ इसलिये सावधान होकर आप सब सुनिये। मैं देश काल आदिका पृथक् पृथक् विज्ञान कहता हूँ ॥ ६० ॥ किस देशमें दान देना चाहिये और दानकी वस्तु कहांपर दुर्लभ है और किस देशमें उसका दान करनेसे अधिक फलकी सिद्धि होती है, विशेषतया कहां दान देनेसे ईश्वराज्ञाके अनुकूल होगा और किस देशमें दान देनेसे अधिक जीवोंकी भलाई हो सकती है, इस प्रकारसे बुद्धिपूर्वक सब बातोंका बारंबार विचार किया जाय तभी दान सम्बन्धी हितकारी देशज्ञान शीघ्र होता है ॥ ६१—६३ ॥

एवं कदा हि दातव्यं कदैतद्वस्तु दुर्लभम् ।
कस्मिन् काले च दानेन लभ्यते विपुलं फलम् ॥ ६४ ॥
कदा दानेनेश्वराज्ञा पालनं स्याद्यथार्थतः ।
कस्मिंश्च काले दानेन बहुजीवहितं तथा ॥ ६५ ॥
इत्थं चिन्तयतो नूनं कालज्ञानमुदेत्यलम् ।
तथैवावश्यकं पात्रज्ञानञ्चात्र निशम्यताम् ॥ ६६ ॥
वितीर्य कीदृशे दानं भूयिष्ठं फलमाप्यते ।
पात्राय कीदृशे देयं कस्यैतद्वस्तु दुर्लभम् ॥ ६७ ॥
कस्मै दानेन सौकर्य्यमीशाज्ञापालने भवेत् ।
कीदृशाय च पात्राय दानं प्राणिहितावहम् ॥ ६८ ॥
इत्येवं यो देशकालपात्रादिज्ञानपूर्वकम् ।
ददाति दानं लोके स दानसिद्धिं प्रपद्यते ॥ ६९ ॥
एवं त्रिगुणतत्त्वञ्च शास्त्रोक्तं योऽध्यवस्यति ।
असावभ्युदयं निःश्रेयसञ्चाप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ७० ॥
यदा यदा मनुष्येषु देशज्ञानमुदेष्यति ।
तदाऽनावश्यकस्थाने न तैर्दानं प्रदास्यते ॥ ७१ ॥

इसी तरह कब देना चाहिये और वह वस्तु कब दुर्लभ होती है। किस समयमें दान करनेसे बहुत फल मिलता है। ॥ ६४ ॥ कब दान करनेसे ईश्वरकी आज्ञाका यथार्थ पालन होता है। किस समयके दानसे बहुतसे जीवोंका हित होता है, इस प्रकार विचार करनेसे कालज्ञान उत्पन्न होता है, ॥ ६५ ॥ इसी तरह आवश्यक पात्रज्ञानके सम्बन्धमें भी सुनिये। किस प्रकारके पात्रको दी जाय और किसको वह वस्तु दुर्लभ है, कैसे पात्रमें दान करनेसे अधिक फल होता है ॥ ६६—६७ ॥ किसे दान देनेसे ईश्वरकी आज्ञा पालनमें सुविधा होगी। किस तरहके पात्रको देनेसे वह दान प्राणियोंको हितकारी होगा ॥ ६८ ॥ इस प्रकारसे देश काल और पात्रका ज्ञान रखकर संसारमें जो दान देता है, वह दानकी सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ६९ ॥ इस तरह जो शास्त्रोक्त त्रिगुण तत्त्वको जानता है, वही अभ्युदय और उत्तम निःश्रेयस प्राप्त करता है ॥ ७० ॥ जब जब मनुष्योंमें देशज्ञान

यदैव कालविज्ञानं भविष्यति नरेष्विह ।
विद्यालयाद्यर्थमर्थाऽभावो न स्थास्यति क्षितौ ॥ ७२ ॥

यदा च मानसे तेषां पात्रज्ञानमुदेष्यति ।
न भविष्यन्ति वै मूर्खा ब्राह्मणास्तीर्थवासिनः ॥ ७३ ॥

यदि पात्रविचारश्च तेषां स्थास्यति चेतसि ।
न तदानीं ब्राह्मणानां दुर्गतिः समुदेष्यति ॥ ७४ ॥

नोपरंस्यति वंशोऽपि गुरूणाञ्च पुरोधसाम् ।
विद्याज्ञानतपोभ्यासैर्न पतिष्यंति ते द्विजाः ॥ ७५ ॥

नापि ते भ्रंशयिष्यंति यजमानाँश्च सद्गतेः ।
त्रायते हि यतः पात्रं नरके पतनान्नरम् ॥ ७६ ॥

इत्येवं मन्निगदितमविचार्यैव चेतसा ।
दानं यद्दीयते तस्मात्त्वदानं सुतरां वरम् ॥ ७७ ॥

यतो दत्तेनापि तेन न स्याच्छ्रेयो नृणामिह ।
स्वदेशस्य स्वजातेर्वा समष्टिव्यष्टिरूपतः ॥ ७८ ॥

का उदय होगा, तब उनके द्वारा अनुचित स्थानमें दान नहीं दिया जायगा ॥ ७१ ॥ जब मनुष्योंको कालज्ञान हो जायगा, तब पृथ्वीमें विद्यालय आदिके लिये अर्थाभाव नहीं रहेगा ॥ ७२ ॥ जब उनके मनमें पात्रज्ञान उदित होगा, तब तीर्थके ब्राह्मण कभी मूर्ख नहीं होंगे ॥ ७३ ॥ जब उनके मनमें पात्रका विचार रहेगा, तब कभी ब्राह्मणोंकी दुर्गति नहीं होगी ॥ ७४ ॥ गुरु—पुरोहितोंका वंश नष्ट नहीं होगा और द्विज विद्या, ज्ञान और तपके अभ्याससे नहीं गिरेंगे ॥ ७५ ॥ फिर वे यजमानोंको सद्गतिसे च्युत नहीं होने देंगे, क्योंकि पात्र ही मनुष्यको नरकमें गिरनेसे बचाता है ॥ ७६ ॥ यह जो मैंने कहा, उसका मनमें विचार न कर जो दान दिया जाता है, उससे तो दान न देना ही अधिक उत्तम है * ॥ ७७ ॥ क्योंकि ऐसा दान देनेसे भी समष्टि या व्यष्टि रूपसे स्वदेश अथवा

---

* ग्रन्थकारका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि, सात्त्विक दान ही देना सर्वदा दाताका कर्तव्य होना चाहिये ।

न चाप्यत्रोन्नतिस्तस्य स्वधर्मेपि विजृम्भते ।
तस्माच्छास्त्रोक्तरीत्यैव दद्याद्दानं समाहितः ॥ ७९ ॥

धरातले यावदत्र यथावद्‌विधिना नराः ।
नाऽभ्यसेयुर्वितरितुं तावन्नाऽऽशा समुन्नतेः ॥ ८० ॥

सर्वेभ्यश्चान्यदेशेभ्यो भारते हि निरन्तरम् ।
संख्यातीतं देयवित्तं न च नो दीयते नरैः ॥ ८१ ॥

यदि तत्तामसेनैव भावेन हि वितीर्यते ।
आश्लिष्यन्ते पुमांसो हि तत एव विपत्तिभिः ॥ ८२ ॥

तत एव च देशोऽयमधिकं प्रच्यविष्यते ।
तस्माद्भाव्यं सदा दात्रा देशकालादिदर्शिना ॥ ८३ ॥

इति वः कथितं सर्वं यत्पृष्टोहं मुनीश्वराः ।
माहात्म्यं दानधर्मस्य किं भूयः श्रोतुमिच्छथ ॥ ८४ ॥

जैमिनिरुवाच ।

धर्म्माङ्गस्य द्वितीयस्य तपसस्तत्त्वमुत्तमम् ।
श्रावयित्वा कुरुष्वास्मान् कृतकृत्यान् कृपानिधे ! ॥ ८५ ॥

स्वजातिके मनुष्योंका कुछ भी कल्याण नहीं होता ॥ ७८ ॥ न उसकी इस लोकमें उन्नति ही होती है और न स्वधर्मका पालन ही होता है इसलिये जब दान देना हो तब सावधानताके साथ शास्त्रोक्त रीतिसे ही देना चाहिये ॥ ७९ ॥ पृथ्वीपर यथाविधि दान करनेको जबतक मनुष्य नहीं सीखेंगे तबतक उन्नतिकी आशा नहीं है ॥ ८० ॥ सब देशोंकी अपेक्षा भारतमें ही मनुष्य असंख्य धनका दान करते हैं ॥ ८१ ॥ परन्तु वही दान तामसिक भावसे दिया जायगा इसीसे मनुष्य विपत्तियोंसे घिर जायँगे ॥ ८२ ॥ और इसी कारणसे यह देश अधिक दुर्दशाग्रस्त होगा। इसलिये दाताको देश काल और पात्रका जाननेवाला होना चाहिये। हे मुनीश्वरो ! आपने मुझसे जो पूछा वह दान धर्मका माहात्म्य मैंने सम्पूर्णरूपसे कह दिया। अब पुनः आप क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ ८३-८४ ॥

महर्षि जैमिनि बोलेः–हे करुणासागर ! धर्मके द्वितीय अङ्ग तपके

याज्ञवल्क्य उवाच।

कर्म चोपासना ज्ञानं यथैतत्साधनत्रयम्।
प्रधानञ्चोत्तमञ्चाहुर्धर्माङ्गेष्वखिलेष्वपि ॥ ८६ ॥
एवं तपोपि धर्मस्य साधनं मुनयो विदुः।
बहूपयुक्तं लोकेऽस्मिन्नत्यपेक्षितमेव च ॥ ८७ ॥
शरीरचित्तयोः सर्वसौख्यं त्यक्त्वा शनैः शनैः।
तयोर्निर्द्वन्द्वधर्मित्वापादनं तप उच्यते ॥ ८८ ॥
यथैकत्र दृढैः पाशैः पशोर्बद्धस्य सन्ततम्।
प्रवर्द्धन्तेऽधिकं कामवेगविक्रमशक्तयः ॥ ८९ ॥
एवं कायमनोऽक्षाणां वर्द्धते नितरां बलम्।
तपसि स्थापनादेव सुखभोगविवर्जनात् ॥ ९० ॥
श्रूयते या पुराणेषु मुनीनां शक्तिरद्भुता।
देवविस्मापिका सापि प्राप्तासीत् तपसा भुवि ॥ ९१ ॥

उत्तम तत्त्वको सुनाकर आप हमें कृतार्थ करें ॥ ८५ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहाः–सम्पूर्ण धर्माङ्गोंमें कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन साधन प्रधान और उत्तम कहे गये हैं ॥ ८६ ॥ इसी प्रकार तप भी धर्मका साधन है यह मुनिगण जानते हैं। संसारमें तप अत्यन्त उपयुक्त और आवश्यक है ॥ ८७ ॥ शरीर और चित्तका सब प्रकारका सुख धीरे धीरे छोड़कर दोनोंकी निर्द्वन्द्व दशा प्राप्तिको तप कहते हैं ॥ ८८ ॥ एक ही स्थानमें मजबूत रज्जुसे निरन्तर बंधे हुए पशुकी जिस प्रकार काम वेग और पराक्रम आदिकी शक्तियाँ अधिक प्रबल हो जाती हैं ॥ ८९ ॥ उसी प्रकार काया मन और इन्द्रियोंको तपमें लगा देनेसे और उनके सुख भोगका त्याग करनेसे उनका बल अत्यन्त बढ़ जाता है ॥ ९० ॥ पुराणोंमें देवताओंको भी विस्मयमें डालनेवाली मुनियोंकी जो अद्भुत शक्ति सुनी जाती है, वह उन्हें तपसे ही पृथ्वीपर प्राप्त हुई थी

लोकोत्तरं हि लोकेऽस्मिन् दिव्यं तेजो महात्मसु ।
विभाव्यतेऽधुना काले तच्चापि तपसः फलम् ॥ ९२ ॥

ब्राह्मक्षात्रविभेदेन तेजो यद्द्विविधं मतम् ।
तपसा रक्ष्यते तत्र ब्राह्मं दानेन चापरम् ॥ ९३ ॥

पतिप्रीतिकरं ह्येकं शारीरं मानसं तपः ।
आचरन्ती गतिं साध्वी सुदुष्प्रापां समश्नुते ॥ ९४ ॥

मनोवाक्कायनिर्वर्त्यं पूर्वमुक्तं तपस्त्रिधा ।
तत्रैकमाचरन्त्येके द्वे वा सर्वाणि वापरे ॥ ९५ ॥

अङ्गस्य यस्य यस्यैव तपः शक्तिः समेधते ।
बाहुल्येन तदङ्गस्य शक्तिर्भावश्च बर्द्धते ॥ ९६ ॥
यथा वाक्तपसः सिद्ध्या बहून्यन्यफलान्यपि ।
प्राप्नुयुर्वा न वा किन्तु वाचः सिद्धिस्तु जायते ॥ ९७ ॥
तपः शारीरकं देवगुरुप्राज्ञद्विजार्चनात् ।
सिद्ध्यच्छौचार्जवब्रह्मचर्याहिंसादिसेवनात् ॥ ९८ ॥

॥ ९१ ॥ इस वर्तमान समयमें संसारमें महात्माओंका जो लोकोत्तर दिव्य तेज दीख पड़ता है, वह भी तपका ही फल है ॥ ९२ ॥ ब्राह्म-तेज और क्षात्रतेज इस तरहसे जो दो प्रकारके तेज हैं उनमें तपसे ब्राह्मतेजकी और दानसे क्षात्रतेजकी रक्षा होती है ॥ ९३ ॥ पतिप्रीतिकारी शारीरिक और मानसिक एक ही तपका यदि सती स्त्री आचरण करे, तो उसे अतिदुर्लभ सद्गति मिलती है ॥ ९४ ॥ मन, वाणी और कायासे किया जानेवाला तीन प्रकारका तप पहिले कहा गया है। इनमेंसे कोई एक, कोई दो और कोई तीनों प्रकारके तपका आचरण करते हैं ॥ ९५ ॥ जिसकी जिस अङ्गकी तप शक्ति बढ़ती है, उसी अङ्गकी शक्ति और भाव विशेषरूपसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ ९६ ॥ जिस प्रकार वाचनिक तपकी सिद्धिसे अन्यान्य अनेक फल मिलें या न मिलें, किन्तु वाणीकी सिद्धि अवश्य होगी ॥ ९७ ॥ देव, गुरु, विद्वान् द्विजोंकी पूजा और विनीत भाव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदिसे शारीरिक तपकी सिद्धि होती है ॥

अनुद्वेजकसत्येष्टप्रियवाक्यप्रयोगतः।
स्वाध्यायाभ्यसनाच्चेह संसिद्ध्येद्वाङ्मयं तपः॥ ९९॥
सिद्ध्येन्मानसमद्वेषाद्ब्रह्मणि प्रणिधानतः।
तुष्टिश्रद्धाभावशुद्धिधृतिमौनाऽस्तिकत्वतः॥ १००॥

इति श्री संन्यासगीतायां दानतपोधर्मनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः।

जैमिनिरुवाच।

श्रुतौ सर्वविदस्माभिः प्राणिनां हितकारकौ।
दानधर्म्मतपोधर्म्मौविदानीं श्रावयस्व नः॥ १॥
त्रीण्यङ्गानि प्रधानानि यज्ञधर्म्मस्य तत्त्ववित्।
कर्मज्ञानोपासनानि गूढं चैतद् रहस्यकम्॥ २॥
यज्ज्ञानादेव वेदस्य स्वरूपज्ञानमुत्तमम्।
काण्डत्रयात्मकस्याऽपि तत्त्वेनैवोदयेदिह॥ ३॥

॥ ९८॥ जिससे किसीको दुःख न हो ऐसे सत्य, इष्ट और प्रिय वाक्यों-के प्रयोगसे एवं स्वाध्यायका अभ्यास करनेसे वाचनिक तप-की सिद्धि होती है॥ ९९॥ अद्वेष, ब्रह्ममें प्रणिधान, तुष्टि, श्रद्धा, भाव-शुद्धि, धृति, मौन और आस्तिकतासे मानसिक तपकी सिद्धि होती है॥ १००॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यास गीताका दानतपोधर्मनिरूपण नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

महर्षि जैमिनि बोलेः—हे सर्वज्ञ! हमने जीवहितकारी दानधर्म्म और तपधर्मका श्रवण किया है। अब हे तत्त्ववित्! यज्ञ धर्मके प्रधान तीनों अङ्गोंको हमें सुनाइये अर्थात् कर्म, उपासना, ज्ञान और उनका गूढ़ रहस्य भी कहिये। जिसके जान लेनेसे काण्डत्रयात्मक वेदका उत्तम स्वरूपज्ञान होकर तत्त्व ज्ञान भी प्राप्त हो॥ १-३॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

काण्डत्रये कर्मकाण्डमतीव गहनं स्मृतम् ।
परमावश्यकं नृणां वर्तते चातिविस्तृतम् ॥ ४ ॥
न हि कर्म विना कोपि कुत्रापि स्थातुमर्हति ।
चराचरे व्याप्तमेतद् ब्रह्मवेत्यवधार्यताम् ॥ ५ ॥
किन्तु तत्राचरेत्तद्वै यच्छास्त्रविहितं भवेत् ।
निषिद्धन्तु त्यजेद्दूराद्य इच्छेत् परमं हितम् ॥ ६ ॥
यथाऽस्य साधनानीह स्थूलात्स्थूलतराण्यपि ।
तथा सूक्ष्मतमा ह्यस्य संस्कारा बलवत्तराः ॥ ७ ॥
यावन्ति क्रियमाणानि कर्माणि प्राक्कृतान्यपि ।
चित्तेषु सूक्ष्मरूपेण विश्राम्यन्ति दृढं नृणाम् ॥ ८ ॥
यथा बीजे वृक्षरूपं लीनं कश्चित्समीक्षितुम् ।
प्रवर्तितोऽपि केनाऽपि क्षमते न विलोकितुम् ॥ ९ ॥
परं बीजं तदेवाम्बुमृद्योगं लभते यदि ।
तदा तस्मात् समुद्भूतो वृक्षः सर्वैरपीक्ष्यते ॥ १० ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोलेः—तीनों काण्डोंमें कर्मकाण्ड अत्यन्त गहन है। यह बहुत विस्तृत होनेपर भी मनुष्योंको अत्यन्त आवश्यक है ॥४॥ कर्मके विना कोई कहीं भी नहीं रह सकता । यह ब्रह्मकी तरह चराचरमें व्याप्त है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५ ॥ परन्तु जो शास्त्र-विहित हों, उन्हीं कर्मोंका आचरण करना चाहिये और जो अपने परम कल्याणकी इच्छा रखते हों, उन्हें शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका दूरसे ही त्याग करना चाहिये ॥ ६ ॥ जिस प्रकार इसके स्थूलसे भी स्थूल साधन होते हैं, उसी प्रकार इसकी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अति प्रबल अवस्था है उसे संस्कार कहते हैं ॥ ७ ॥ जितने क्रियमाण और पहिले किये हुए कर्म होते हैं, वे सब मनुष्योंके चित्तमें सूक्ष्मरूपसे रहते हैं ॥ ८ ॥ जैसे कोई बीजमें स्थित वृक्ष-का रूप देखनेके लिये प्रवृत्त हो तो, वह देख नहीं सकता ॥ ९ ॥ परन्तु वही बीज यदि जल और मिट्टी पाजाय, तो उससे उत्पन्न हुआ

तथा सर्वाणि कर्माणि मनोलीनानि देहिनाम्।
अतिसौक्ष्म्यान्न शक्यन्ते स्मर्तुमज्ञैर्नरैः क्वचित्॥ ११॥
शुभाशुभानि तान्येव बलवन्तीह जन्मनि।
अन्यजन्मनि वा प्राप्य देशकालानुकूलताम्॥ १२॥
यथायोग्यं यथाशक्ति शुभान्येवाशुभानि वा।
अतर्कितान्यपीहाशु फलानि जनयन्ति हि॥ १३॥
देवत्वञ्च नरत्वञ्च जीवास्तिर्यक्त्वमेव वा।
कर्मभेदादेव लोके प्रपद्यन्ते पृथक् पृथक्॥ १४॥
स्वर्गं भूमिं दुर्गतिञ्च जड़त्वं ज्ञानितामपि।
प्राप्नुवन्तीह भूतानि कर्मणैवेति मे मतम्॥ १५॥
कर्मक्षेत्रतयैवैतद्भारतं स्तूयते क्षितौ।
अतश्चैवात्र वाञ्छन्ति जननं विबुधा अपि॥ १६॥
यच्चार्यजातिरस्त्यत्र महामहिमशालिनी।
तत्रापि मूलमत्रत्या विशिष्टा कर्मपद्धतिः॥ १७॥

वृत्त सब लोग देख लेते हैं॥ १०॥ वैसे ही प्राणियोंके मनमें सम्पूर्ण कर्म संस्काररूपसे विलीन रहते हैं और वे अति सूक्ष्म होनेसे अज्ञानी मनुष्य उनका स्मरण नहीं रख सकते॥ ११॥ वे ही बलवान् शुभ या अशुभ संस्काररूपमें स्थित कर्म इस जन्ममें वा अन्य जन्ममें देशकालकी अनुकूलता प्राप्तकर अतर्कितरूपसे शीघ्रही यथायोग्य और यथाशक्ति शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं॥१२-१३॥ कर्मभेदके अनुसार संसारमें जीवमात्र देवत्व, मनुष्यत्व और तिर्यक्त्व पृथक् पृथक् प्राप्त करते हैं॥ १४॥ स्वर्ग, भूलोक, दुर्गति, जड़ता और ज्ञानीपन यह सब कर्मसे ही प्राणिमात्र प्राप्त करते हैं, ऐसा मेरा मत है॥ १५॥ कर्मक्षेत्र होनेसे ही पृथ्वीमें भारतवर्षकी महिमा गाई जाती है और इसीसे देवता भी भारतमें जन्मग्रहण करनेकी इच्छा करते हैं॥ १६॥ जो आर्य जाति यहांपर अत्यन्त प्रतापशालिनी है, इसका मूल कारण इसकी विशेष कर्मप्रणाली ही है॥ १७॥

गर्भाधानादिसंस्कारैरियं ध्वस्तमनोमला ।
आजन्माऽनुष्ठितैः सद्भिः शुद्धा राजति कर्मभिः ॥ १८ ॥
लोके तत्तत् पुण्यकर्म यद्यत्स्यात्सत्त्ववर्द्धकम् ।
तमोविवर्द्धकं यद्यत्प्रोच्यते पापकर्म तत् ॥ १९ ॥
एतयोस्तारतम्येन वैलक्षण्यं मिथो गताः ।
लोकाः शास्त्रेषु विख्याता अध ऊर्ध्वं चतुर्दश ॥ २० ॥
विचित्रेयं कर्मशक्तिर्ययैकः सात्त्विकाश्रितः ।
नीयते हि पदं मुक्तेर्नरः संशुद्धमानसः ॥ २१ ॥
पापकर्माश्रयेणैव तमसा सुजड़ीकृतः ।
क्रमशश्चानयैवाशु पात्यते दुर्गतौ परः ॥ २२ ॥
अतोऽवश्यं मानवेन श्रेयः परममिच्छता ।
अवधेयं प्रयत्नेन सत्कर्माचरणे सदा ॥ २३ ॥
प्राचुर्य्यं कर्मणामेव ज्ञानादिभ्योऽत्र विष्टपे ।
विस्तृतिः कर्मकाण्डस्य वेदे तस्मात्समीक्ष्यते ॥ २४ ॥

गर्भाधानादि संस्कारोंसे इसके मनोमल हट गये हैं और जन्मसे ही अच्छे कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे यह जाति शुद्ध स्वरूपमें शोभा पा रही है ॥ १८ ॥ संसारमें जो जो सत्त्वगुणके बढ़ानेवाले कर्म हों, वे पुण्यकर्म और जो तमोगुणकी वृद्धि करनेवाले हों, वे पापकर्म कहे गये हैं ॥ १९ ॥ इन दोनोंके तारतम्यसे परस्पर वैलक्षण्यको प्राप्त होनेसे शास्त्रोंमें सात अधोलोक और सात ऊर्ध्व लोक मिलाकर चौदह लोक कहे गये हैं ॥ २० ॥ कर्मकी शक्ति ऐसी विचित्र है कि, सात्त्विक भावका आश्रय करनेवाले शुद्धचित्तके मनुष्यको वह मुक्तिपदको पहुँचाती है और पापकर्मका आश्रय करनेसे तमोगुणके कारण जड़भावको पहुँचे हुए मनुष्यको वही क्रमशः दुर्गतिमें गिराती है ॥ २१-२२ ॥ अतः परमकल्याण चाहनेवाले मनुष्यको बड़े यत्नके साथ अच्छे कर्मोंका आचरण करनेके विषयमें निरन्तर अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये ॥ २३ ॥ ज्ञानादिकी अपेक्षा इस लोकमें कर्मोंकी ही अधिकता होनेसे वेदमें भी

निरूपितास्त्रयो भेदाः शास्त्रेष्वेतस्य कर्मणः ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यमिति वच्म्यथ लक्षणम् ॥ २५ ॥

विशिष्टं यदनुष्ठाने पुण्यं नाप्नोति मानवः ।
तन्नित्यं प्रत्यवायश्चाऽकरणे यस्य निश्चितः ॥ २६ ॥

यथा सन्ध्योपासनादावकृते प्रत्यवायिता ।
कृतेऽपि नियमेनैव पुण्यं किञ्चिन्न लभ्यते ॥ २७ ॥

कृते यस्मिन् फलप्राप्तिरकृते तु न पातकम् ।
एतन्नैमित्तिकं प्रोक्तं यथा तीर्थादिसेवनम् ॥ २८ ॥

काम्यं तत् कार्यसिद्ध्यर्थं सकामो विदधाति यत् ।
यथाऽनपत्यः पुत्रेष्टियागाद्यत्रानुतिष्ठति ॥ २९ ॥

एतेऽपि च त्रयो भेदाः कथिता मुनिभिः पुरा ।
आध्यात्मिकं तथा चाधिदैविकञ्चाधिभौतिकम् ॥ ३० ॥

क्रियते यत्स्वधर्मस्य स्वदेशस्योपकारकम् ।
ज्ञानानुशीलनं यत्र ज्ञेयमाध्यात्मिकं हि तत् ॥ ३१ ॥

कर्मकाण्डका ही विस्तार देखा जाता है ॥ २४ ॥ शास्त्रोंमें ऐसे कर्मके तीन भेद कहे हैं। नित्य, नैमित्तिक और काम्य। इन तीनोंके लक्षण मैं कहता हूं ॥ २५ ॥ जिस कर्मका अनुष्ठान करनेसे मनुष्यको कोई विशेष पुण्य नहीं होता और न करनेसे प्रत्यवाय होता है, उसे नित्य कर्म कहते हैं ॥ २६ ॥ जैसे सन्ध्या न करनेसे प्रत्यवाय होता है और नियमपूर्वक करनेसे कोई विशेष पुण्य नहीं होता ॥२७॥ जिसके करनेसे फल होता है और न करनेसे पातक नहीं लगता, उसे नैमित्तिक कर्म्म कहते हैं। जैसे तीर्थयात्रासेवन आदि ॥२८॥ काम्य कर्म उसे कहते हैं, जो कोई कामना मनमें रखकर उस कार्यकी सिद्धिके लिये किया जाता है। जैसे पुत्रहीन मनुष्य पुत्रेष्टि याग आदिका अनुष्ठान करते हैं ॥ २६ ॥ पूर्वकालके मुनियोंने इसी तरह कर्म्मोंके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूपसे तीन भेद भी कहे हैं ॥ ३० ॥ स्वधर्म और स्वदेशके उपकारके लिये ज्ञानका जो अनुशीलन किया जाता है उसे आध्यात्मिक कर्म्म

देवानां कार्यमुद्दिश्य यत्र यागादिकं भवेत्।
तादृशं सकलं कर्म विज्ञेयं ह्याधिदैविकम् ॥ ३२ ॥
तच्चाधिभौतिकं कर्म सर्वभूतार्थमेव यत्।
दीयतेऽत्राऽतिथिभ्योऽन्नं भोज्यन्ते ब्राह्मणादयः ॥ ३३ ॥
निष्कामतः कामतश्च सर्वाण्येतान्यपि द्विधा।
तदेवं कर्ममाहात्म्यं गहनञ्चातिविस्तृतम् ॥ ३४ ॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ ३५ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ ३६ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ ३७ ॥
उभे सकामनिष्कामे कर्म्मणी प्रबले मते।
प्रवृत्तिमूलकं त्वाद्यं निवृत्तिमूलकं परम् ॥ ३८ ॥

जानना चाहिये ॥ ३१ ॥ देवताओंके कार्यका उद्देश्य रखकर जो याग आदि कर्म किये जाते हैं वे आधिदैविक कर्म्म समझने चाहियें ॥ ३२ ॥ और प्राणिमात्रके लिये जो कर्म्म किया जाता है, जैसे अतिथिको अन्न देना या ब्राह्मणोंको भोजन कराना आदि, यह सब आधिभौतिक कर्म्म हैं ॥ ३३ ॥ ये सभी कर्म निष्काम और सकाम इस प्रकारसे द्विविध हैं। इसीसे कर्म्ममाहात्म्य बड़ा गहन और विस्तृत है ॥ ३४ ॥ आसक्ति रहित होकर, नियमपूर्व्वक, राग और द्वेष शून्य हो, फलकी इच्छा न करके जो कर्म किया जाता है वह सात्त्विक कर्म है ॥ ३५ ॥ फलकी इच्छा करके अहङ्कारयुक्त होकर अत्यन्त आयोजनके साथ जो कर्म किया जाता है वह राजस कर्म है ॥ ३६ ॥ प्रतिबन्धक, हानि, हिंसा और पुरुषार्थकी अपेक्षा न करके अवज्ञा पूर्वक जो कर्म आरम्भ किया जाता है वह तामस कर्म है ॥ ३७ ॥ सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके कर्म्म प्रबल कहे गये हैं। पहिला प्रवृत्तिमूलक और दूसरा निवृत्तिमूलक है ॥ ३८ ॥ प्रथम प्रवृत्ति-

प्रवृत्तिमूलकत्वेऽपि प्रथमस्य विशेषतः ।
प्रदातृत्वं ह्यभ्युदयस्य स्वर्लोकस्य चोच्यते ॥ ३९ ॥
लोकं पितॄणां स्वर्गं च तद्दत्ते क्रमशः कृतम् ।
तथेन्द्रादिपदं श्रेष्ठं भोगांश्चैवोर्द्ध्वलोकगान् ॥ ४० ॥
अत एव श्रुतावास्तेऽधिकं माहात्म्यमस्य हि ।
एतस्यैव बलाज्जीवा यान्ति देवर्षिपितृताम् ॥ ४१ ॥
अवतारा भगवतोऽप्येवं कर्म्माश्रिता मताः ।
निवृत्तिधर्म्ममूलस्य निष्कामस्य तु कर्म्मणः ॥ ४२ ॥
विलक्षणा गतिस्तात कथिता शास्त्रविस्तरे ।
गतिस्तेनैव सहजा जीवन्मुक्तिश्च लभ्यते ॥ ४३ ॥
कर्म्मणो हि प्रसादेन जीवन्मुक्ता नरा अपि ।
धृत्वेशस्य रताः कार्य्ये कुलालचक्रवद्वपुः ॥ ४४ ॥

मूलक होनेपर भी विशेषतया वही अभ्युदय और स्वर्ग देनेवाला कहा जाता है ॥ ३९ ॥ क्रमशः किया हुआ प्रवृत्तिमूलक कर्म पितृलोक, स्वर्ग, इन्द्रादिका श्रेष्ठ पद और ऊर्ध्व लोकोंके भोग प्राप्त कराता है, इसीसे श्रुतिमें इसीका अधिक महात्म्य वर्णन किया गया है। इसीके बलसे जीवगण देवत्व, ऋषित्व और पितृत्वको प्राप्त करते हैं ॥ ४०-४१ ॥ भगवान्‌के अवतार भी इसीका आश्रय करते हैं। और हे तात ! निवृत्तिधर्ममूलक निष्काम कर्मकी गति शास्त्रोंमें विलक्षण कही गई है। उसीसे सहज गति और जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ४२-४३ ॥ कर्मके ही प्रसादसे जीवन्मुक्त मनुष्य भी शरीर धारण कर कुलालके चक्रकी तरह भगवान्‌के कार्यमें लगे रहते हैं * ॥ ४४ ॥ संकल्प, विकल्प, जाति, आयु, भोगसमूह और प्रकृतिरूपसे कर्म्मशक्ति निश्चय पूर्वक कर्मोंमें स्थित रहती है। इसी-

---

* जीवन्मुक्तिको प्राप्त करके महात्मागण कुलालचक्र जिस प्रकार पहिले चलाई हुई गतिसे चलता रहता है, उसी प्रकार अपने प्रारब्धको भोग करते हुए वे भगवान्‌के कार्यमें लगे रहते हैं। इसी गतिको सहज गति कहते हैं।

संकल्पस्य विकल्पस्य जात्यायुर्भोगसंहतेः ।
प्रकृते रूपतस्तेषु कर्म्मशक्तिः स्थिता ध्रुवम् ॥ ४५ ॥
अतः सर्वप्रधानेयं दुर्ज्ञेयाऽभ्यधिकं मता ।
कर्म्मणां गतिवेत्तारः सर्वज्ञाः सम्मता भुवि ॥ ४६ ॥
कर्म्मण्युपास्तौ ज्ञाने च ह्यङ्गोपाङ्गान्विताः सदा ।
धर्म्माः सर्वेऽन्तर्भवन्ति ततो वेदस्त्रिकाण्डकः ॥ ४७ ॥
उपासनेशसान्निध्यप्राप्तेर्हेतुरिहोच्यते ।
ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्योपायानां वर्णनं खलु ॥ ४८ ॥
ज्ञानकाण्डे महाभागाः स्फुटमस्तीह विस्तरात् ।
सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणः समुपासना ॥ ४९ ॥
तथा सगुणमूर्त्तेश्च तस्यैव हि महर्षिपः ।
लीलाविग्रहरूपस्य तस्यैव परमेशितुः ॥ ५० ॥
देवानाञ्च ऋषीणाञ्च पितॄणामपि सर्वथा ।
तत्प्रत्यक्षविभूतीनामुपास्तिर्मुनिपुङ्गवाः ॥ ५१ ॥
वर्णितोपासनाकाण्डेऽस्तीत्येतदवधार्यताम् ।
निम्नाधिकारिणां प्रोक्ता निम्नाऽनेका ह्युपासनाः ॥ ५२ ॥

से यह कर्मशक्ति सर्व प्रधान होनेपर भी अत्यन्त दुर्ज्ञेय है। कर्मकी गतिको जाननेवाले संसारमें सर्वज्ञ कहाते हैं ॥ ४४–४६ ॥ कर्म, उपासना और ज्ञानमें धर्मके सब अंग उपांग अन्तर्भुक्त हो जानेसे वेद त्रिकाण्डक हैं ॥ ४७ ॥ भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त करनेकी कारणस्वरूप उपासना कही गई है और इसमें ब्रह्मके स्वरूप साक्षात्कारके उपायोंका वर्णन है ॥ ४८ ॥ हे महाभाग! सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन ज्ञानकाण्डमें विस्तारके साथ स्पष्ट रीतिसे किया गया है ॥ ४९ ॥ और उसी महान् तेजोमय ब्रह्मकी सगुण मूर्तिकी उपासना, उसी परमात्माके लीलाविग्रहरूपकी उपासना, उनकी प्रत्यक्ष विभूतियाँ देवता, ऋषि और पितृगणकी उपसना विधि, हे मुनिश्रेष्ठो ॥ ५०–५१ ॥ उपासनाकाण्डमें वर्णित है, यह बात ध्यानमें रखना चाहिये । निम्नाधिकारियोंके लिये अनेक

तामसीनाञ्च शक्तीनां तस्यैव परमात्मनः ।
शरीरं योगमार्गो वै भक्तिः स्यात् प्राणरूपिका ॥ ५३ ॥
आहुस्तूपासनाकाण्डस्येदृक्तत्त्वमृषीश्वराः ।
योगः क्रियामूलकस्याद्भक्तिस्तु भावमूलिका ॥ ५४ ॥
मन्त्रो हठो लयो राजश्चतुर्धा योग ईरितः ।
भक्तिस्तु त्रिविधा प्रोक्ता गौणी रागात्मिका परा ॥ ५५ ॥
निर्गुणोपासना याऽस्ति ब्रह्मणो वेदमूर्द्धसु ।
सर्वासूपनिषत्स्वास्तेऽधिकारो न्यासिनामिह ॥ ५६ ॥
वेदस्य ज्ञानकाण्डस्तु सप्तधा परिकीर्तितः ।
सप्तानां ज्ञानभूमीनामानुकूल्येन साधवः ॥ ५७ ॥
सर्व एव यतन्तेऽत्र स्वाऽधिकारानुसारतः ।
सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणो रूपवर्णने ॥ ५८ ॥
सर्वेषां कथनं वेदानुकूल्यमिह विन्दते ।
तत्त्वातीतं पदं तद्वद्वाङ्मनसगोचरम् ॥ ५९ ॥

निम्न श्रेणीकी उपासनाएँ कही गई हैं ॥ ५२ ॥ जो उसी परमात्माकी तामसिकशक्तियोंकी उपासना है। उपासनाका शरीर योग-मार्ग है और भक्ति उसका प्राण है ॥ ५३ ॥ महर्षियोंने उपासना-काण्डका इस प्रकार तत्त्व कहा है। योग क्रियामूलक और भक्ति-भावमूलक है ॥ ५४ ॥ मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इस प्रकार चतुर्विध योग कहे गये हैं और गौणी, रागात्मिका एवं परा इस प्रकारसे भक्ति भी त्रिविध कही गई है ॥ ५५ ॥ ब्रह्मकी निर्गुण उपासना जो वेदोंमें और सब उपनिषदोंमें कही गई है, उसका अधिकार केवल संन्यासियोंको ही है ॥ ५६ ॥ वेद-का ज्ञानकाण्ड सप्तविध है। सभी साधुगण सात ज्ञान भूमियोंकी अनुकूलतासे अपने अपने अधिकारानुसार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका स्वरूप वर्णन करनेमें यत्न करते हैं ॥ ५७–५८ ॥ सबका कथन वेदके अनुकूल है। मन और वाणीसे अगोचर तत्त्वातीत जो पद है, उसको जाननेके लिये शब्द और भावकी सहायतासे सभी प्रयत्न करते हैं। हे जिज्ञासुओ! ज्ञानके सप्तविध साधनोंके स्वतः आश्रयस्वरूप

सर्वे ज्ञातुं यतन्ते वै साहाय्याच्छन्दभावयोः।
ज्ञानस्य साधनानान्तु सप्तानामाश्रयाः स्वतः ॥ ६० ॥
सप्त दर्शनशास्त्राणि कथ्यन्तेऽत्र बुभुत्सवः।
शास्त्राणामन्तिमं प्रोक्तं शास्त्रं वेदान्तमुत्तमम् ॥ ६१ ॥
अत एवाऽधिकारोऽस्ति केवलं न्यासिनामिह।
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ॥ ६२ ॥
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ॥ ६३ ॥
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ॥ ६४ ॥
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ६५ ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां कर्म्मोपासनाज्ञान-
निरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः।

सप्त दर्शन शास्त्र कहे जाते हैं और उन सातों शास्त्रोंमें अन्तिम एवं उत्तम वेदान्त शास्त्र कहा गया है ॥ ५९-६१ ॥ वेदान्त शास्त्रका केवल सन्न्यासियोंको ही अधिकार है। विभाग किये हुए सब संसारमें अविभक्त एक अव्ययभाव जिसके द्वारा दिखाई देता है, वह सात्त्विक ज्ञान है। जो ज्ञान संसारके पदार्थोंको पृथक् पृथक् रूपसे दिखाता है और नाना प्रकारके पृथक् पृथक् भावोंका द्योतक है वह राजस ज्ञान है। जो ज्ञान मूर्खोंके समान एक कार्य्यमें आसक्ति कराता है, हेतुरहित है, सार हीन है और क्षुद्र है वह तामस ज्ञान कहलाता है ॥ ६२-६५ ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यास गीताका कर्मोपासनाज्ञाननिरूपण नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

ऋषय ऊचुः ।

धर्म्मज्ञ गतिवेत्ताऽसि त्वमेव कालकर्म्मणोः ।
भवतः कृपया धर्म्मरहस्यं श्रुतमुज्ज्वलम् ॥ १ ॥
अङ्गोपाङ्गयुतं गूढं श्रुतिमूलमिदं हितम् ।
भवतोऽन्तिमसिद्धान्ताज्ज्ञातमस्माभिरानतैः ॥ २ ॥
निवृत्तिमार्गनिष्कामकर्म्मणोः सर्व्वथा क्षमः ।
सन्न्यासधर्म्म एवाऽस्ति सर्व्वश्रेष्ठोऽत्र भूतले ॥ ३ ॥
सन्न्यासाश्रम उक्ताँस्तान् धर्म्मांस्तत्र महाऋषे ।
विहितानि च कर्म्माणि श्रावयाऽस्मानतोऽधुना ॥ ४ ॥
सन्न्यासिनां भवान् श्रेष्ठः जगतां गुरुरेव च ।
उपदेष्टा भवेत् कोऽन्यस्त्वत्तोऽन्यो धर्म्मशिक्षणे ॥ ५ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

सन्न्यासधर्म्मनिर्वाहो दुर्गमः परिकीर्तितः ।
अत एव त्रिकालज्ञा ऋषयो मुनयस्तथा ॥ ६ ॥
सन्न्यासग्रहणे सर्वे सङ्कोचं चक्रिरे सदा ।
अतो वर्णगुरुर्विप्रः सन्न्यासी तद्गुरुः स्मृतः ॥ ७ ॥

ऋषिगण बोलेः-हे धर्मज्ञ ! आप ही काल और कर्मकी गति जानते हैं। आपकी कृपासे अङ्ग उपाङ्गों सहित उज्वल श्रुतिका मूलस्वरूप और परम हितकारी धर्मका रहस्य हमलोगोंने सुना है। आपके अन्तिम सिद्धान्तसे हम विनीतोंको यह ज्ञात हुआ कि, निवृत्ति मार्ग और निष्काम कर्मके योग्य एक सन्यास धर्म ही इस पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ है ॥ १-३ ॥ हे महर्षे ! सन्न्यासाश्रममें कौनसे धर्म और कर्म कहे गये हैं, उन्हें इस समय हमें सुनाइये ॥ ४ ॥ आप जगद्गुरु और सन्न्यासियोंमें श्रेष्ठ हैं। आपसे बढ़कर धर्मशिक्षा देनेमें दूसरा कौन उपदेष्टा हो सकता है ? ॥ ५ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहाः-सन्न्यासधर्म्मका निर्वाह अत्यन्त कठिन हो गया है। इसलिये त्रिकालज्ञ ऋषि मुनि भी ॥ ६ ॥ संन्यास ग्रहण करनेमें सभी सदा संकोच करते हैं। वर्ण गुरु ब्राह्मण

विप्राणामेव तत्राऽस्ति सन्न्यासेऽधिकृतिः शुभा।
अवस्थायां चतुर्थ्यां या सततं श्रुतिसम्मता ॥ ८ ॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणेषु तु विद्वाँसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्त्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा विज्ञवर्य्याणां मुनीनां तत्र तस्थुषां।
ऋषीणाञ्च विचारोऽभूत् प्रश्नो नाऽन्येन सम्भवेत् ॥ ११ ॥
शुकं विहाय धर्म्मेऽस्मिन् गहने तूर्द्ध्वरेतसम्।
जैमिन्याद्यास्तदा सर्वे शुकदेवं महामुनिम् ॥ १२ ॥
ऋषयः प्रार्थयामासुः जिज्ञासा क्रियतामिति।
सन्न्यासाश्रमधर्म्माणां त्वं नः प्रतिनिधिर्भव ॥ १३ ॥

शुक उवाच।

सन्न्यासाश्रमधर्म्माणां कलिकालोपयोगिनाम्।
तत्त्वं नो ब्रूहि सर्वज्ञ पितुर्यस्माच्छ्रुतं मया ॥ १४ ॥

और उनके भी गुरु संन्यासी हैं ॥७॥ अतः संन्यास ग्रहण करनेका पवित्र अधिकार ब्राह्मणोंको ही है और वह भी वेदोंके मतसे चतुर्थ-अवस्थामें है ॥ ८ ॥ भूतोंमें प्राणी श्रेष्ठ हैं और प्राणियोंमें भी बुद्धि-जीवी प्राणी श्रेष्ठ हैं। बुद्धिमान् प्राणियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं ॥ ९ ॥ ब्राह्मणोंमें विद्वान् श्रेष्ठ और विद्वानों-में कृतबुद्धि श्रेष्ठ हैं। कृतबुद्धियोंमें कर्ता श्रेष्ठ और कर्ताओंमें ब्रह्मवादी श्रेष्ठ हैं ॥ १० ॥ यह सुनकर वहां बैठे हुए विज्ञवर ऋषि मुनियोंका विचार हुआ कि, इस गहन धर्मके सम्बन्धमें ऊर्द्ध्वरेता शुकदेवके विना कोई प्रश्न करनेमें समर्थ नहीं है। इस कारण जैमिनी आदि ऋषिगणने महामुनि शुकदेवसे प्रार्थना की कि, आप हमारे प्रतिनिधि होकर संन्यासाश्रम धर्मके सम्बन्धमें जिज्ञासा कीजिये ॥ ११-१३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोलेः-हे सर्वज्ञ! कलिकालके उपयोगी संन्या-साश्रमधर्मका तत्त्व आप हमें सुनाइये। क्योंकि मैंने पिताजी

अहो दुरत्ययः कालस्तथा कालाऽनुसारिणाम्।
धर्म्माणां साधनेनैव सुखं सामान्यप्राणिनाम् ॥ १५ ॥
कलौ धर्म्मस्यैकपादो गाम्भीर्य्यो नो भविष्यति।
एतदन्यदपि श्रुत्वा भवन्तं प्रार्थयामहे ॥ १६ ॥
कलेर्निवृत्तिधर्मस्याऽप्युच्यतां रूपमीश्वर ॥ १७ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

महान्तोऽपि च धर्म्मज्ञा अधर्मं कुर्वते मुने! ॥
कलिस्वभाव एवैष परिहार्य्यो न केनचित् ॥ १८ ॥
तस्मादत्र मनुष्याणां स्वभावात्पापकारिणाम्।
निष्कृतिर्न हि विप्रेन्द्र! सामान्योपायतो भवेत् ॥ १९ ॥
यः कश्चिदपि धर्म्मात्मा यज्ञं दानं करोति च।
यः कश्चिदपि धर्म्मात्मा क्रियायोगरतो भवेत् ॥ २० ॥

के मुखसे यह सुना है ॥ १४ ॥ कि काल बड़ा कठिन है और कालानुसार धर्म-साधनके विना सामान्य प्राणियोंको सुख नहीं होता ॥ १५ ॥ कलिमें धर्मका एक ही पाद रहेगा और उसकी भी गम्भीरता नहीं रहेगी। यह बात और अन्य बातें भी सुनकर हम आपसे प्रार्थना करते हैं ॥ १६ ॥ हे ईश्वर! कलिकालके उपयोगी निवृत्तिधर्मके रूपको आप कहिये ॥ १७ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोलेः—हे मुने! कलिका ऐसा स्वभाव ही है कि, बड़े बड़े धर्मात्मा भी कलिकालमें अधर्माचरण करते हैं और यह विषय किसीके रोके रुक नहीं सकता ॥ १८ ॥ अतः हे विप्रेन्द्र! इस प्रकारके पापाचारी मनुष्योंके स्वभावकी निष्कृति सामान्य उपायोंसे नहीं हो सकती * ॥ १९ ॥ कोई धर्मात्मा यज्ञ और दान करेगा या कोई धर्मात्मा क्रिया-योगमें रत रहेगा ॥ २० ॥ तो ऐसे

---

* इस वचनका सिद्धान्त यह है कि, काल—शक्तिको रोकना सम्भव तो है, परन्तु साधारण पुरुषार्थसे नहीं रुक सकती। कलिकालमें धर्मसाधन बनेगा, परन्तु असाधारण पुरुषार्थसे बनेगा।

नरं धर्म्मरतं दृष्ट्वा सर्वेऽसूयां प्रकुर्व्वते।
व्रताचाराः प्रणश्यन्ति ध्यानयज्ञादयस्तथा॥ २१॥
उपद्रवा भविष्यन्ति चाऽधर्म्मस्य प्रवर्त्तनात्।
असूयानिरताः सर्व्वे दम्भाचारपरायणाः॥ २२॥
प्रजाश्चाल्पायुषः सर्व्वा भविष्यन्ति कलौ युगे।
उत्तमा नीचतां यान्ति नीचाश्चोत्तमतां तथा॥ २३॥
राजानश्चाऽर्थनिरतास्तथा लोभपरायणाः।
धर्म्मकञ्चुकसंवीता धर्म्मविध्वंसकारिणः॥ २४॥
किङ्कराश्च भविष्यन्ति शूद्राणाञ्च द्विजातयः।
धर्म्मस्त्रियं न गच्छन्ति पतयो जारलक्षणाः॥ २५॥
द्विषन्ति पितरं पुत्रा गुरुं शिष्या द्विषन्ति च।
पतिञ्च वनिता द्वेष्टि कलौ पापिनि चाऽऽगते॥ २६॥
वेश्यालावण्यशीलेषु स्पृहां कुर्व्वन्ति योषितः।
धर्म्मविघ्ना भविष्यन्ति स्त्रियः स्वपुरुषेषु च॥ २७॥
न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणा वेदनिन्दकाः।
न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति हेतुवादैर्विनाशिताः॥ २८॥

धर्मरत पुरुषको देखकर उससे कलियुगमें सभी द्वेष करेंगे। इस कारण ध्यान, यज्ञादि व्रताचार नष्ट होंगे॥२१॥ कलिमें अधर्मप्रचारसे नाना प्रकारके उपद्रव होंगे। सभी दम्भाचारी और द्वेषमें निमग्न रहेंगे॥२२॥कलियुगमें सब प्रजा अल्पायु होगी, उत्तम पुरुष नीच बनेंगे और नीच उत्तमताको प्राप्त करेंगे॥२३॥ राजन्यगण लोभी अर्थनिरत और ऊपरसे धार्मिकताका ढोंग दिखाकर धर्मका नाश करनेवाले होंगे॥२४॥ ब्राह्मण शूद्रोंके दास बनेंगे। व्यभिचारी पुरुष धर्मपत्नीसे सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे॥ २५॥ पुत्र पितासे और शिष्य गुरुसे द्रोह करेंगे और जब पापी कलि आजायगा, तब कुलस्त्रियां पतिसे द्वेष करेंगी। वेश्याओंके लावण्य और शीलताकी इच्छा करेंगी और अपने पतिके धर्मकार्यकी विघ्नस्वरूप बनेंगी॥ २६-२७॥ ब्राह्मण वेदनिन्दक होकर व्रतोंका आचरण नहीं करेंगे और नास्तिकतासे नष्ट होकर यज्ञ और हवन नहीं करेंगे॥ २८॥ पितृ

द्विजाः कुर्व्वन्ति दम्भार्थं पितृयज्ञादिकाः क्रियाः ।
अपात्रेषु च दानानि कुर्व्वन्ति च तथा नराः ॥ २९ ॥
क्षीरोपायनिमित्तेषु गोषु प्रीतिश्च कुर्व्वते ।
दानयज्ञजपादीनां विक्रीणीते फलं द्विजाः ॥ ३० ॥
प्रतिग्रहं प्रकुर्व्वन्ति चाण्डालाद्यैरपि द्विजाः ।
न च द्विजातिशुश्रूषां न स्वधर्म्मप्रवर्त्तनम् ॥ ३१ ॥
करिष्यन्ति तदा शूद्राः प्रव्रज्यालिङ्गिनोऽधमाः ।
ततश्चाऽनुदिनं धर्म्मः सत्यं शौचं क्षमा दया ॥ ३२ ॥
कालेन बलिना प्राज्ञाः ! नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः ।
वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः ॥ ३३ ॥
धर्म्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि ।
दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके ॥ ३४ ॥
स्त्रीत्वे पुँस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि ।
लिङ्गमेवाऽऽश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम् ॥ ३५ ॥

यज्ञ आदि क्रियाएं द्विजमात्र केवल दम्भ दिखानेके लिये करेंगे और मनुष्य अपात्रमें दान करेंगे ॥ २९ ॥ केवल दूधके लिये गौसे प्रीति करेंगे और ब्राह्मण दान, यज्ञ, जप आदिका विक्रय करेंगे। ॥ ३० ॥ और चाण्डाल आदिसे भी प्रतिग्रह करेंगे, संन्यासका स्वांग बनानेवाले अधम शूद्र द्विजातिकी सेवा नहीं करेंगे और अपने धर्मका आचरण नहीं करेंगे। दिन प्रतिदिन बलवान् कलि-कालके प्रभावसे धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया ॥ ३१–३२ ॥ आयु, बल, स्मृति आदि नष्ट होंगे और कलिमें वित्त ही मनुष्योंका कुल, आचार एवं गुणका परिचायक होगा ॥ ३३ ॥ धर्माचार-व्यवस्थामें बल ही कारण होगा। अभिरुचि ही दाम्पत्य-सम्बन्धमें कारणीभूत होगी। व्यवहारमें कपट ही कारण होगा। प्रेमके लिये केवल स्त्रीत्व और पुंस्त्व ही पर्याप्त रहेगा। केवल यज्ञोपवीत ही ब्राह्मणत्वका द्योतक होगा। आश्रम-का द्योतक केवल वेश ही होगा। और वह भी आपसके द्वेषका

अवृत्त्या न्यायदौर्गल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः।
अनाद्यतैवाऽसाधुत्वे साधुत्वे दंभ एव तु ॥ ३६ ॥
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनं।
दूरे वार्य्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम् ॥ ३७ ॥
उदरंभरता स्वार्थः सत्यत्वे धाष्टर्यमेव हि।
दाक्ष्यं कुटुंबभरणं यशोऽर्थे धर्म्मसेवनम् ॥ ३८ ॥
एवं प्रजाभिदु ष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले।
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः ॥ ३९ ॥
प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः।
आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम् ॥ ४० ॥
शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पादिभोजनाः।
अनावृष्टया विनँक्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः ॥ ४१ ॥
प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।
न्यासिनोऽपि भविष्यन्ति दैवसन्दूषिताशयाः ॥ ४२ ॥

कारण होगा। जीविकाके अभावसे अन्याय होने लगेगा। बकवाद करना ही पाण्डित्य माना जायगा। आडम्बरहीन असाधु समझा जायगा और दम्भी साधु माना जायगा। दम्पतिका परस्पर स्वीकार ही विवाह समझा जायगा और स्नान करने मात्रसे शृंगार होगा, कुछ दूरसे लाया हुआ जल ही तीर्थ समझा जायगा। और केश रखना ही लावण्यताका कारण होगा ॥ ३४–३७॥ पेट भरना ही स्वार्थकी अवधि होगा। धृष्टता ही सत्यताका लक्षण होगा। कुटुम्बपोषण ही चातुर्यकी सीमा होगी और यशके वास्ते धर्मसेवन होगा ॥ ३८॥ इस प्रकार दुष्ट प्रजासे भूमण्डल आकीर्ण हो जानेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंमें जो बली होगा, वही राजा बनेगा ॥ ३९ ॥ निर्घृण और दस्युधर्मवाले राजाओं द्वारा धन और स्त्रियोंका अपहरण होनेपर प्रजा गिरि काननोंमें चली जायगी और शाक, मूल, मांस, फल, मधु, पुष्पादि खाती हुई अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, कर आदिसे पीड़ित होकर अन्तमें मर जायगी ॥ ४०–४१॥ दैवसे जिनके स्वभाव दूषित हो गये हैं, ऐसी संन्यासी भी प्रमादी,

यदा संन्यासिनः सर्व्वे क्षात्रवृत्तिं समाश्रिताः।
वैश्यवृत्तिश्च मुनयः ! तदैव प्रबलः कलिः ॥ ४३ ॥
यदा संन्यासिनो भूमौ कुसीदग्रहणे रताः।
गृहिवन्मन्दिरक्षेत्रमठनिर्माणतत्पराः ॥ ४४ ॥
भविष्यन्ति हि विप्रेन्द्राः ! तदैव प्रबलः कलिः।
तपोयोगविरागेभ्यः परावृत्य यदा रताः ॥ ४५ ॥
कामिनीकाञ्चनेष्वेते तदैव प्रबलः कलिः।
ब्रह्मचर्य्यमकृत्वैव वानप्रस्थं विना तथा ॥ ४६ ॥
गृहस्था न्यासिनः स्युश्चेत्तदैव प्रबलः कलिः।
सर्वे वर्णा भविष्यन्ति यदा संन्यासदम्भिनः ॥ ४७ ॥
युष्माभिस्तर्हि विज्ञेयस्तदैव प्रबलः कलिः।
संन्यासलिङ्गमाश्रित्य शूद्राद्या ब्राह्मणैर्यदा ॥ ४८ ॥
कारयिष्यन्त्यङ्घ्रिपूजां तदैव प्रबलः कलिः।
सन्न्यासिष्वपि भेदश्चेज्जातेः पङ्क्तेर्भविष्यति ॥ ४९ ॥

चञ्चलचित्त, खल और कलहोत्सुक हो जायंगे ॥ ४२ ॥ जब संन्यासी प्रायः क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्तिका आश्रय करेंगे, तब हे मुनिगण ! समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है ॥ ४३ ॥ जब सन्न्यासी पृथ्वीपर सूद ग्रहणमें रत होकर गृहस्थोंकी तरह मन्दिर, क्षेत्र, मठ आदिके निर्माणमें तत्पर होंगे, तब हे विप्रेन्द्रों ! समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है। तप योग और वैराग्यसे मुँह मोड़-कर जब वे कामिनी काञ्चनमें रत हो जायंगे, तब समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है। जब विना ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थका पालन किये गृहस्थ सन्न्यासी बनने लगेंगे, तब समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है। सभी वर्ण जब संन्यासका ढोंग रचने लगेंगे ॥४४-४७ ॥ तब आपलोग समझलें कि, कलि प्रबल हो गया है। सन्न्यासियोंका स्वांग बनाकर शूद्रादि जब ब्राह्मणोंसे पैर पुजवाने लगेंगे, तब समझना चाहिये कि, कलि प्रबल होगया है। संन्यासियोंमें जब जाति और पंक्तिका भेद होगा एवं जब संन्यासियोंके सम्प्रदाय

सम्प्रदाये तथा पन्थे विभागो बहुशो यदा।
सन्न्यासिनाञ्च भविता तदैव प्रबलः कलिः॥ ५० ॥
सद्गृहस्था दरिद्राः स्युर्धनाढ्या न्यासिनो यदा।
संन्यासधर्म्मनिरता भिक्षां प्राप्स्यन्ति नैव हि॥ ५१ ॥
छद्मसन्न्यासिनो ह्येव प्राप्स्यन्त्यादरमुत्तमम्।
युष्माभिस्तु परिज्ञेयस्तदैव प्रबलः कलिः॥ ५२ ॥
क्षुद्रसिद्ध्या तथौषध्या कपटाचरणेन च।
वशीकरणतश्चाऽपि सामुद्रिकविधानतः॥ ५३ ॥
संन्यासिनो भविष्यन्ति यदा मान्या धरातले।
वैराग्यज्ञानयोगानां तथा तेष्वादरो न हि॥ ५४ ॥
विज्ञेयो ज्ञानसम्पन्नास्तदैव प्रबलः कलिः।
ज्ञानवृद्धतपोवृद्धपूजा ह्रासत्वमेष्यति॥ ५५ ॥
आध्यात्मिकत्ववैराग्यादरो नैव भविष्यति।
यदा न्यासिषु वै धीरास्तदैव प्रबलः कलिः॥ ५६ ॥
यदा तु वैदिकी दीक्षा दीक्षा पौराणिकी तथा।
न स्थास्यति महाभागास्तदैव प्रबलः कलिः॥ ५७ ॥

और पन्थोंके अनेक विभाग हो जायंगे, तब समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है॥ ४८–५०॥ सद्गृहस्थ दरिद्र और संन्यासी धनी बनेंगे, संन्यासधर्ममें जो निरत होंगे वे भिक्षा भी प्राप्त नहीं करेंगे और कपटी संन्यासी उत्तम आदरके पात्र बनेंगे, तब आपलोग समझलें कि, कलि प्रबल हो गया है॥ ५१–५२॥ क्षुद्र सिद्धियां, औषधिप्रयोग, कपटाचार, वशीकरण और सामुद्रिक-विधान आदिसे जब संन्यासीगण पृथ्वीमें माननीय बनेंगे, वैराग्य, ज्ञान और योगका उनमें आदर नहीं रहेगा, हे ज्ञानसम्पन्न सत्पुरुषों! तब जानना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है। ज्ञानवृद्ध और तपोवृद्ध पुरुषोंकी पूजाका जब ह्रास हो जायगा और संन्यासियोंमें आध्यात्मिकभाव तथा वैराग्यका कुछ भी आदर नहीं रहेगा तब हे धीर पुरुषो! समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है॥५३-५६॥ जब वैदिकी या पौराणिकी दीक्षाका क्रम नहीं रहेगा, तब

यदा तु पुण्यपापानां परीक्षा वेदसम्भवा।
न स्थास्यति महाभागास्तदैव प्रबलः कलिः ॥ ५८ ॥
क्वचिच्छिन्ना क्वचिद्भिन्ना यदा सुरतरङ्गिणी।
भविष्यति महाभागास्तदैव प्रबलः कलिः ॥ ५९ ॥
यदा तु म्लेच्छजातीया राजानो धनलोलुपाः।
भविष्यन्ति महाप्राज्ञास्तदैव प्रबलः कलिः ॥ ६० ॥
यदा स्त्रियोऽतिदुर्द्दान्ताः कर्कशाः कलहे रताः।
गर्हिष्यन्ति च भर्त्तारं तदैव प्रबलः कलिः ॥ ६१ ॥
यदा तु मानवा भूमौ स्त्रीजिताः कामकिङ्कराः।
द्विषन्ति गुरुमित्रादीन् तदैव प्रबलः कलिः ॥ ६२ ॥
यदा क्षोणी स्वल्पफला तोयदाः स्तोकवर्षिणः।
असम्यक् फलिनो वृक्षास्तदैव प्रबलः कलिः ॥ ६३ ॥
भ्रातरः स्वजनामात्या यदा धनकणेहया।
मिथः संप्रहरिष्यन्ति तदैव प्रबलः कलिः ॥ ६४ ॥

हे महाभाग! समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है ॥ ५७ ॥ जब वेदोक्त रीतिसे पुण्य पापकी परीक्षा नहीं रहेगी, तब हे महाभाग! समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है ॥ ५८ ॥ जब कहीं छिन्न, कहीं भिन्न गङ्गा नदी हो जायगी, तब हे महाभाग! कलि प्रबल हो जायगा ॥ ५९ ॥ जब म्लेच्छ जातिके राजा होंगे और वे धनलोलुप होंगे, तब हे महाप्राज्ञों! समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है ॥ ६० ॥ जब स्त्रियां दुर्द्दान्त, कर्कशा और कलहमें रत होकर पतिकी निन्दा करने लगेंगी, तब समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है ॥ ६१ ॥ जब पृथ्वीपर मनुष्यमात्र स्त्रीजित और कामके गुलाम बनकर गुरु एवं मित्रादिसे द्वेष करने लगेंगे, तब समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है ॥ ६२ ॥ जब पृथ्वी उपजाऊ नहीं रहेगी, मेघ वर्षा कम करेंगे, वृक्ष अच्छे नहीं फलेंगे, तब समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है ॥ ६३ ॥ बन्धुगण, स्वजन, अमात्य आदि जब थोड़ेसे धनके लिये आपसमें लड़ मरेंगे, तब जानो कि, कलि प्रबल हो गया है ॥ ६४ ॥ मद्य और

प्रकटे मद्यमांसादौ निन्दादण्डविवर्जिते।
गूढ़पानं चरिष्यन्ति तदैव प्रबलः कलिः ॥ ६५ ॥
गुरुशुश्रूषणे युक्ता रक्ताश्चेशपदाम्बुजे।
अनुरक्ताः स्वदारेषु न हि तान् बाधते कलिः॥ ६६ ॥
शृणुतर्षिगणा यूयं निर्लिप्तः काल ईरितः।
कालो हि भगवद्रूपस्तत्स्वरूपमिहोच्यते ॥ ६७ ॥
प्रत्येककाले जायन्ते यादृशा जीवराशयः।
तेषां समष्टिकर्मभ्यस्तादृक् कालः प्रतीयते ॥ ६८ ॥
तथाऽपीह महाभागाः! कालशक्तिदुरत्यया।
कलिकालप्रभावेण परिवर्तनमेति ह ॥ ६९ ॥
वर्णाश्रमाणां धर्मो वै तस्मात् सन्न्यासिनामपि।
धर्मेषु वैपरीत्यं हि भविष्यति महर्षयः ॥ ७० ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां कालधर्मनिरूपणं
नाम पञ्चमोऽध्यायः।

मांस जब गुप्त या प्रगटरूपसे सेवन किया जायगा और उसके लिये कोई निन्दा या दण्ड नहीं रहेगा, तब समझना चाहिये कि, कलि प्रबल हो गया है ॥ ६५ ॥ परन्तु जो गुरु सेवामें लगे रहेंगे, भगवान्‌के चरणोंके भक्त रहेंगे और अपनी ही स्त्रीमें अनुरक्त रहेंगे, उन्हें कलिकी बाधा नहीं होगी ॥ ६६ ॥ हे ऋषिगण! काल निर्लिप्त है और वह भगवान्‌का रूप है। उसका स्वरूप मैं कहता हूं सो सुनिये। हर एक कालमें जैसे जीव उत्पन्न होते हैं, उनके समष्टिकर्मोंके अनुसार काल प्रतीत होता है ॥ ६७-६८ ॥ तथापि हे महाभाग! कालकी शक्ति बड़ी प्रबल है। कलिकालके प्रभावसे हे महर्षिगण वर्णाश्रमधर्ममें परिवर्तन और सन्न्यासियोंके धर्ममें वैपरीत्य हो जाता है ॥ ६९-७० ॥

इस प्रकार श्री सन्न्यास गीताका कालधर्म निरूपण नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

शुक उवाच।

भगवन्! वेदविहितं भेदं सन्न्यासिनामिह।
सामान्याचरणं तेषां धर्म्मं साधारणं तथा ॥ १ ॥
कृपया श्रावयित्वाऽस्मान्कृतकृत्यान्कुरुष्व ह ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

यज्ञप्रधानः पुंसो वै धर्म्मोऽत्र परिकीर्तितः।
तपसश्चाऽपि प्राधान्यं नारीधर्म्मे विशेषतः ॥ ३ ॥
प्रवृत्ते रोधको ज्ञेयो वर्णधर्म्मो महामुने।
आश्रमस्य च धर्म्मो हि निवृत्तेः पोषकः स्मृतः ॥ ४ ॥
ऐश्वर्यस्य तु प्राधान्यं वैश्यधर्म्मे विनिश्चितम्।
धर्म्मः सेवाप्रधानो वै शूद्रस्य समुदीरितः ॥ ५ ॥
क्षत्रियस्य च धर्म्मोऽयं क्षात्रतेजःप्रधानकः।
विप्रधर्म्मे तु भो विप्राः! ब्रह्मतेजःप्रधानता ॥ ६ ॥
चतुर्ष्वप्याश्रमेष्वेवाऽधिकारो ब्राह्मणस्य ह।
सन्न्यासमन्तरेणाऽत्र क्षत्रियस्य त्रिषु स्मृतः ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोलेः--भगवन्! सन्न्यासियोंका वेदविहित भेद, उनका सामान्य आचरण और साधारण धर्म कृपया सुनाकर आप हमें कृतार्थ करें ॥ १-२ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोलेः-पुरुषधर्म यज्ञप्रधान और नारीधर्म विशेषतया तपप्रधान कहा गया है ॥ ३ ॥ हे महामुने! प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म है ॥ ४ ॥ वैश्यधर्ममें ऐश्वर्य-की प्रधानता निश्चित हुई है। सेवाधर्म शूद्रके लिये प्रधान माना गया है ॥ ५ ॥ क्षत्रियोंका धर्म क्षात्र तेज प्रधान है और हे विप्रो! ब्राह्मणोंके धर्ममें ब्रह्मतेजका ही प्राधान्य है ॥ ६ ॥ चारों आश्रमोंका ब्राह्मणको अधिकार है। क्षत्रियोंको सन्न्यासके अतिरिक्त तीन आश्रमोंका अधिकार है ॥ ७ ॥ वैश्यके

द्वयोरेव तु वैश्यस्य गार्हस्थ्यब्रह्मचर्य्ययोः ।
एकस्मिन्नेव गार्हस्थ्ये शूद्रस्याऽधिकृतिर्मता ॥ ८ ॥
प्रवृत्तिं शास्त्रविहितां ब्रह्मचर्य्ये तु शिक्षते ।
समाचरति गार्हस्थ्ये तां प्रवृत्तिं पुमान् भुवि ॥ ९ ॥
वानप्रस्थे निवृत्तेस्तु शिक्षा पुंसु प्रजायते ।
निवृत्तिः पूर्णतां याति संन्यासाश्रममेत्य वै ॥ १० ॥
आश्रमाणां चतुर्णां वै प्रधानो धर्म्म उच्यते ।
संयमस्तु गृहस्थानां नियमो ब्रह्मचारिणाम् ॥ ११ ॥
वानप्रस्थाश्रमस्थानां तपस्त्यागस्तु न्यासिनाम् ।
सन्न्यासाश्रमभेदाश्च चत्वार इह ईरिताः ॥ १२ ॥
कुटीचकस्तु प्रथमो द्वितीयस्तु बहूदकः ।
हंसः परमहंसश्च द्वाविमावन्तिमौ स्मृतौ ॥ १३ ॥
सन्न्यासदीक्षामादाय कामिन्यादीन् विहाय च ।
कुटीचकः स सन्न्यासी नगरप्रान्तसीमनि ॥ १४ ॥
कचिन्मनोरमे स्थाने कुटीं निर्म्माय संवसेत् ।
योगोपनिषदध्यायैः कुर्य्यादाध्यात्मिकोन्नतिम् ॥ १५ ॥

लिये गार्हस्थ्य और ब्रह्मचर्य ये दो ही अधिकार हैं एवं शूद्रको केवल गृहस्थाश्रममात्रका अधिकार है ॥ ८ ॥ पृथ्वीपर पुरुष शास्त्रोक्त प्रवृत्तिको ब्रह्मचर्याश्रममें सीखते हैं और गृहस्थाश्रममें उसका आचरण करते हैं ॥ ९ ॥ वानप्रस्थाश्रममें निवृत्तिकी शिक्षा आरम्भ होती और सन्न्यासाश्रममें निवृत्तिकी पूर्णता होती है ॥ १० ॥ अब चारों आश्रमोंके प्रधान धर्म कहता हूं। गृहस्थोंका प्रधान धर्म संयम है, ब्रह्मचारियोंका प्रधान धर्म नियम है, वानप्रस्थोंका प्रधान धर्म तप है और सन्न्यासियोंका प्रधान धर्म त्याग है। सन्न्यासाश्रमके चार भेद कहे गये हैं ॥ ११-१२ ॥ यथाः-(१) कुटीचक (२) बहूदक (३) हंस और (४) परमहंस ॥ १३ ॥ सन्न्यास-दीक्षा ग्रहणकर स्त्री-पुत्रोंको छोड़ नगर-प्रान्तकी सीमापर कहीं मनोहर स्थानमें कुटी बनाकर जो रहता है, उसे कुटीचक सन्न्यासी कहते हैं। उसे योगाभ्यास और उपनिष-

बहूदकस्तु सन्न्यासी न वसेदधिकं क्वचित्।
दिनत्रयं प्रतिस्थानं स्थित्वाऽन्यत्र सुखं व्रजेत् । १६ ॥
तीर्थादिकं परिभ्रम्य यथावत् साधनादिभिः ।
आत्मोपलब्धौ सततं यतेताऽयं महामनाः ॥ १७ ॥
सन्न्यासी ज्ञानवान् हंसो विधाय भ्रमणं मुदा ।
संसारे ज्ञानविस्तारं कुर्य्यादेव प्रयत्नतः ॥ १८ ॥
पूज्यः परमहंसः स सन्न्यासी विगतज्वरः ।
कुर्व्वन्नकुर्व्वन् वा किञ्चिदसौ नारायणः स्मृतः ॥ १९ ॥
कौपीनं गैरिकं वस्त्रं दण्डञ्चाऽपि कमण्डलुं ।
सततं यत्नतः सम्यक् गृह्णीरन् प्रथमास्त्रयः ॥ २० ॥
अस्मिन् परमहंसस्य नियमो नाऽस्ति कश्चन ।
ध्रुवं विधिर्निषेधश्च तदिच्छाऽधीनतामितः ॥ २१ ॥
पञ्चधा सगुणोपास्तावधिकारी कुटीचकः ।
सुयोग्यः कीर्त्तितः सम्यग् ज्योतिर्ध्याने बहूदकः ॥ २२ ॥

दादिके अध्ययन द्वारा अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिये ॥१४-१५॥ बहूदक सन्न्यासीको कहीं अधिक नहीं ठहरना चाहिये। हर एक स्थानमें तीन दिन रहकर अन्य स्थानमें आनन्दके साथ उसे चले जाना चाहिये ॥१६॥ इस उदारचेताको तीर्थादिमें परिभ्रमण कर यथावत् साधनादिसे आत्माकी उपलब्धिके लिये निरन्तर चेष्टा करनी चाहिये ॥ १७ ॥ ज्ञानी हंस सन्न्यासीको प्रसन्नताके साथ भ्रमण कर बड़े प्रयत्नसे संसारमें ज्ञानका विस्तार करना चाहिये ॥१८॥ जिसके सब प्रकारके ताप छूट गये हैं, ऐसा परमहंस सन्न्यासी कुछ करे या न करे वह साक्षात् नारायणस्वरूप होनेके कारण पूज्य कहा गया है ॥ १९ ॥ प्रथम तीन अर्थात् कुटीचक, बहूदक और हंस, कौपीन, गेरुआ वस्त्र, दण्ड, कमण्डलु बड़े यत्नके साथ निरन्तर भली भांति ग्रहण करें ॥ २० ॥ इस विषयमें परमहंसके लिये कोई नियम नहीं है, क्योंकि विधि और निषेध उनकी इच्छाके अधीन हैं, ऐसा निश्चय है ॥ २१ ॥ सगुण पञ्चोपासनाका अधिकारी कुटी-चक है। बहूदक उत्तम ज्योतिर्ध्यानके लिये सुयोग्य कहा गया

हंसो बिन्दूपासनायामधिकारी निगद्यते ।
पुण्यः परमहंसोऽसौ ब्रह्मोपास्तौ स्वतः क्षमः ॥ २३ ॥
वस्तुतोऽधिकृतिप्राप्तौ सर्व्वे सन्न्यासिनः सुखं ।
ब्रह्मोपास्तिं सदा कर्तुमर्हन्तीतरथा न हि ॥ २४ ॥
ऋतुद्वये हि सन्न्यासी क्षौरं कुर्य्यात्कुटीचकः ।
क्षौरं बहूदकः सम्यक् त्यजेत्स्यात्तु जटाधरः ॥ २५ ॥
हंसः परमहंसश्च चेदिच्छन्तावुभौ तदा ।
क्षौरं प्रत्ययनं कर्त्तुमर्हतः पूतमानसौ ॥ २६ ॥
दण्डत्रयं धरेदाद्यो द्वौ दण्डौ तु बहूदकः ।
एकदण्डं तृतीयस्तु चतुर्थो नियमोर्ध्वगः ॥ २७ ॥
आद्यो वारत्रयं स्नानमाचरेत्तु बहूदकः ।
द्विवारमेकवारन्तु तृतीयोऽनियमोऽपरः ॥ २८ ॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रं धरेदाद्यो द्वितीयस्तु त्रिपुण्ड्रकम् ।
तृतीयः श्रद्धया भस्म चतुर्थोऽनियमो स्वतः ॥ २९ ॥

है ॥ २२ ॥ हंस बिन्दुकी उपासनाका अधिकारी है और पुण्यवान् परमहंस ब्रह्मकी उपासना करनेमें स्वयं समर्थ है ॥ २३ ॥ यह भी निश्चित है कि, वास्तविक अधिकार प्राप्त होनेपर सभी सन्न्यासी ब्रह्मकी उपासना कर सकते हैं ॥ २४ ॥ कुटीचक सन्न्यासीको दो ऋतु बीत जानेपर क्षौर कराना चाहिये। बहूदक सन्न्यासीको क्षौर नहीं कराना चाहिये, उत्तम जटाएं धारण करनी चाहियें ॥ २५ ॥ हंस और परमहंस दोनों पवित्रात्मा यदि चाहें तो हरएक अयनमें क्षौर करा सकते हैं ॥ २६ ॥ तीन दण्ड कुटीचक धारण करे, बहूदक दो दण्ड ग्रहण करे, हंस एक ही दण्ड ले और परमहंस तो नियमसे अतीत होते हैं ॥ २७ ॥ कुटीचक प्रतिदिन तीन वार स्नान करे, बहूदक दो वार और हंस एकवार स्नान करे। परमहंसके लिये कोई नियम नहीं है ॥ २८ ॥ कुटीचक ऊर्ध्व पुण्ड्र धारण करें, बहूदक त्रिपुण्ड्र लगावे, हंस श्रद्धाके साथ भस्म धारण करे और परमहंसके लिये कोई नियम नहीं ॥ २९ ॥ कुटीचकको एक

एकाहारः सदाऽऽद्यस्य वृत्तिर्माधुकरी शुभा।
द्वितीयस्य ततोऽन्यस्य वृत्तिराजगरी मता ॥ ३० ॥
सत्यं परमहंसस्य करपात्रं सुशोभते।
यतो बालायमानोऽसौ बालवच्चेष्टते सदा ॥ ३१ ॥
बहिःपूजा शुभाऽऽद्यस्य द्वितीयस्य हि मानसी।
आत्मपूजा तृतीयस्य त्वात्मारामोऽपरः स्वयम् ॥ ३२ ॥
मन्त्रयोगः सदाऽऽद्यस्य द्वितीयस्य हठः स्मृतः।
तृतीयस्य लयोऽन्त्यस्य राजयोगो व्यवस्थितः ॥ ३३ ॥
अनुकूलेऽधिकारे तु सर्व्वे सन्न्यासिनः सदा।
सर्व्वं विधातुमर्हन्ति नास्ति कश्चन संशयः ॥ ३४ ॥
आद्यो जपेद्वाचनिकमुपांश्वेव बहूदकः।
तृतीयो मानसं सम्यक् प्रणवं ब्रह्मवाचकम् ॥ ३५ ॥
पूज्यः परमहंसोऽयं विबुधेश्वरतां गतः।
सर्व्वदाऽनुभवं ह्यन्तः प्रणवस्य करोत्यलम् ॥ ३६ ॥

वार भोजन करना चाहिये, बहूदकको माधुकरी * वृत्ति रखनी चाहिये। हंसकी अजगर कीसी वृत्ति † होनी चाहिये और परमहंसको तो करपात्र ही शोभा देता है, क्योंकि वह बाल-भावापन्न होकर बालककी तरह चेष्टा करता है ॥ ३०-३१ ॥ कुटीचकको बाह्य पूजा, बहूदकको मानस पूजा और हंसको आत्म पूजा शुभ है। परमहंसतो स्वयं आत्माराम होते हैं ॥ ३२ ॥ कुटीचकको मन्त्रयोग, बहूदकको हठयोग, हंसको लययोग और परमहंसको राजयोगके साधन करनेकी विधि है ॥ ३३ ॥ अधिकार प्राप्त होनेपर भी सन्न्यासी चारों योगोंका साधन कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३४ ॥ कुटीचक संन्यासी ब्रह्मवाचक प्रणवका वाचनिक जप करें, बहूदक उपांशु जप करे, हंस मानसिक जप करे और परमहंस तो देवताओंका भी ईश्वर होनेके कारण वह अन्तःकरणमें निरन्तर

---

* कई स्थानोंसे थोड़ा थोड़ा मांगकर भिक्षा करनेको माधुकरी वृत्ति कहते हैं।
‡ अपने स्थानमें बैठकर अयाचित जो मिल जाय उसीके अनुसार भिक्षा करनेको आजगरी वृत्ति कहते हैं।

कुर्य्यान्नाद्यो गुरोः कार्य्यं कुर्य्यात्तत्र बहूदकः।
आचार्य्यकार्य्यं शास्त्रोपपत्तिकांशोपदेशनम् ॥ ३७ ॥
आचार्य्यस्य गुरोश्चाऽपि कार्य्यं कुर्य्यात्तृतीयकः।
न विधिर्न निषेधश्च चतुर्थस्य कदाचन ॥ ३८ ॥
संत्यजेद्वपुषोऽध्यासमाद्यः स्थूलस्य सर्व्वथा।
द्वितीयः खलु सूक्ष्मस्य तृतीयः कारणस्य च ॥ ३९ ॥
सर्व्वथाऽयं पूजनीयो मार्गे विधिनिषेधयोः।
अतीतः परमो हंसः प्राप्नोति ब्रह्मरूपताम् ॥ ४० ॥
रक्षेदाद्यः शिखासूत्रे द्वितीयः सूत्रमात्रकम्।
शिखा तस्य जटायां हि सम्यक् परिणता भवेत् ॥ ४१ ॥
सूत्रशून्यो भवेद्धंसः स्वेच्छाऽधीनैव तज्जटा।
न विधिर्न निषेधो वा चतुर्थस्य विधीयते ॥ ४२ ॥
अन्त्योऽग्रिमैस्त्रिभिः पूज्यस्तृतीय आद्ययोर्द्वयोः।
द्वितीयोऽग्र्येण सम्पूज्यो भक्त्या कल्याणमिच्छता ॥ ४३ ॥

प्रणवका अनुभव करता है। यही साधना उसके लिये पर्याप्त है ॥ ३५—३६ ॥ कुटीचक गुरुका कार्य न करे। बहूदक शास्त्रोंके औपपत्तिक अंशका उपदेश कर आचर्यका कार्य करे। आचार्यका और गुरुका दोनोंका कार्य हंस करे और परमहंसको किसी प्रकारका विधिनिषेध नहीं है ॥ ३७-३८ ॥ कुटीचक स्थूल शरीरका सर्वथा अध्यास छोड़ दे। बहूदक सूक्ष्म शरीरका और हंस कारण शरीरका अध्यास छोड़ दे। परमहंस विधिनिषेधसे अतीत होनेके कारण सर्वथा पूजनीय है। वह ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९—४० ॥ कुटीचक शिखा सूत्र धारण करे। बहूदक केवल सूत्रमात्र धारण करे, क्योंकि शिखा उसकी जटामें ही उत्तम रीतिसे परिणत हुई होती है। हंसको सूत्र भी त्याग देना चाहिये और जटा रखना न रखना उसकी इच्छापर अवलंबित है, परमहंसके लिये कोई विधिनिषेध नहीं है ॥ ४१-४२ ॥ परमहंस सन्न्यासी कल्याण चाहने वाले प्रथम तीन सन्न्यासियोंके लिये भक्तिपूर्वक पूजनीय हैं। हंस सन्न्यासी शेष दो प्रकारके

सर्वे संन्यासिनः पूज्या वर्णैराश्रमिभिस्तथा ।
संन्यासिनमविज्ञातं वचसैव नमेत्सुधीः ॥ ४४ ॥
कालतो हीनवर्णोऽपि संन्यासिवेषभाक् यतः ॥
प्रणामे कायिके सम्यक् दोषोऽत्र विद्यते खलु ॥ ४५ ॥
नमस्कारे वाचनिके न दोषोऽस्ति कथंचन ।
व्रतं त्रयाणामाद्यानां प्रत्येकं तु त्रिवत्सरम ॥ ४६ ॥
व्रते पूर्णेऽधिकारे च लब्धे गुरुदयाबलात् ।
आद्यो द्वितीयो भवितुं द्वितीयस्तु तृतीयकः ॥ ४७ ॥
एवं तृतीयश्चरमः शक्नोति योग्यतां गतः ।
आध्यात्मिकाऽधिकारस्य न कश्चित्पूर्णतां विना ॥ ४८ ॥
प्राप्नुयादुन्नतिं तत्र गुरुदेवः परीक्षकः ।
प्राणहीनः स्थूलदेहमाद्यस्य दहनं व्रजेत् ॥ ४९ ॥
दहनं क्षेपणं वाऽपि द्वितीयस्याऽनले जले ।
नद्यां क्षेपं तृतीयस्य क्षित्यन्तर्वा निवेशनम् ॥ ५० ॥

सन्न्यासियोंके लिये पूजनीय है और बहूदक कुटीचकके लिये पूजनीय है ॥ ४३ ॥ सब वर्ण और आश्रमों द्वारा सभी संन्यासी पूजनीय हैं । बुद्धिमान् मनुष्य अपरिचित सन्न्यासीको केवल वाचनिक प्रणाम करे, क्योंकि कलिके प्रभावसे हीनवर्णके लोग भी सन्न्यासीका वेश धारण कर लेते हैं । उनको कायिक प्रणाम करनेसे दोष होता है ॥ ४४–४५ ॥ वाचनिक नमस्कारमें दोष नहीं होता। कुटीचक, बहूदक और हंस इनमेंसे प्रत्येकका व्रत तीन तीन वर्षका होता है । व्रत पूर्ण होनेपर और गुरुकी कृपासे अधिकार प्राप्त होनेपर कुटीचक बहूदक हो सकेगा, बहूदक हंस बन सकेगा । ॥ ४६–४७ ॥ और हंस योग्यता प्राप्तकर परमहंस हो सकेगा। आध्यात्मिक अधिकारकी पूर्णता हुए विना कोई उन्नतिको नहीं पहुँच सकता और इसके परीक्षक केवल गुरुदेव ही हो सकते हैं। कुटीचकका स्थूल देह प्राणहीन हो जानेपर उसे जला देना चाहिये ॥ ४८–४९ ॥ बहूदकका मृतदेह अग्निमें जलाया जा सकता है या जलमें फेक भी दिया जा सकता है। हंसके मृत शरीरको

चतुर्थस्य विशेषो न नियमोऽस्त्यत्र कश्चन।
संन्यासिगुरुदेवस्य सन्निधाने कुटीचकः॥ ५१॥
स्पृष्ट्वैवोपनिषद्ग्रन्थं गृह्णीयाद्भक्तितो व्रतम्।
बहूदकस्तु संन्यासी गुरुदेवस्य सन्निधौ॥ ५२॥
स्पृष्ट्वा तीर्थजलं सम्यक् गृह्णीत व्रतमुत्तमम्।
नारायणस्वरूपं तु स्पृष्ट्वा होमानलं स्वयम्॥ ५३॥
गृह्णीयाद्धंससंन्यासी व्रतं परमभद्रदम्।
परः परमहंसोऽसावतीतद्वैतभावनः॥ ५४॥
आत्मतत्त्वं स्वयं स्मृत्वा गृह्णीयात्परमं व्रतम्।
दृष्टाऽऽनुश्रविकैश्वर्य्यमूर्द्ध्वलोकादिकञ्च यत्॥ ५५॥
कुटीचकस्तु मन्त्रेण तत्सर्व्वं साधु सन्त्यजेत्।
त्यजेत्तदुक्तमखिलं सङ्कल्पेन बहूदकः॥ ५६॥
हंसो भवेत्सर्व्वथैव तत्तत्संस्कारवर्जितः।
संन्यासी परमो हंसः सर्व्वेषां भक्तिभाजनम्॥ ५७॥
ब्रह्मस्वरूपस्तत्तस्य क निषेधः क वा विधिः।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वौमार्गावेव तिष्ठतः॥ ५८॥

नदीमें बहा देना या पृथ्वीमें गाड़ देना चाहिये॥ ५०॥ परमहंसके लिये कोई विशेष नियम नहीं है। कुटीचक सन्न्यासी गुरुदेवके निकट उपनिषद् ग्रन्थको छूकर भक्तिके साथ व्रत ग्रहण करे। बहूदक गुरुदेवके निकट जाकर तीर्थजलको स्पर्शकर व्रत धारण करे। स्वयं नारायण स्वरूप होमानलको स्पर्शकर हंस सन्न्यासी परम कल्याणकारी व्रत ग्रहण करे। परहंस द्वैतभावसे अतीत होता है॥ ५१-५४॥ आत्मतत्त्वका स्मरणकर वह स्वयं परम व्रतको ग्रहण करे। दृष्ट अर्थात् इह लौकिक ऐश्वर्य और आनुश्रविक अर्थात् स्वर्गलोकके ऐश्वर्य एवं ऊर्ध्वलोकादिके ऐश्वर्यका कुटीचक मन्त्र द्वारा त्याग करे और वही सब बहूदक सङ्कल्प द्वारा त्याग दे॥ ५५-५६॥ हंसको सर्वथा उसके संस्कारोंसे भी रहित होना चाहिये और परमहंस सन्न्यासी तो सबका भक्तिभाजन है। वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप होनेसे उसके लिये न कोई विधि है और न कोई

निवृत्तिमेवाश्रयेरन् सर्व्वे संन्यासिनः सदा ।
कलिप्रभावतो नूनं वर्णाश्रमविपर्य्ययात् ॥ ५९ ॥
इतरेऽप्याश्रयिष्यन्ते निवृत्तिमार्गमुत्तमम् ।
अन्तश्चतुर्णामेतेषां प्रवेष्टुं यद्यपि च्चमाः ॥ ६० ॥
नैव ते स्युस्तथाऽप्येते निवृत्तिमार्गगामिनः ।
अत एवाऽवधूतेति गोस्वामीति च साध्विति ॥ ६१ ॥
उदासीनेति वैरागीति महापुरुषेति च ।
एतत्पर्य्यायकैरन्यैरपि शब्दैर्निरन्तरम् ॥ ६२ ॥
प्रकीर्त्यन्ते यतस्तेऽत्र साधुमार्गावलम्बिनः ।
त्यागस्य तपसश्चाऽपि ज्ञानस्य तारतम्यतः ॥ ६३ ॥
सम्माननस्याऽपि तेषां तारतम्यं सुविद्यते ।
विशेषतस्तारतम्याद्वर्णाधिकारयोरपि ॥ ६४ ॥
तारतम्यं भवेत्तेषां निवृत्तिमार्गवर्त्तिनाम् ।
साधवः स्वोच्चवर्णीयान् कुर्वीरन् नैव दीक्षितान् ॥ ६५ ॥
प्रणामं कायिकं तेषां गृह्णीरंश्च कदापि नो ।
वर्णानामाश्रमाणाञ्च परमोन्नतिसाधिनी ॥ ६६ ॥

निषेध ही है । प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो ही मार्ग हैं ॥ ५७-५८ ॥ इनमेंसे संन्यासियोंको निवृत्तिमार्गका ही आश्रय करना चाहिये । कलिके प्रभावसे वर्णाश्रमका विपर्यास होनेके कारण इस उत्तम निवृत्तिमार्गका ब्राह्मणेतरवर्ण भी आश्रय करेंगे । यद्यपि वे इन चारों-में अर्थात् कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंसोंमें प्रवेश करनेमें असमर्थ हैं, तथापि वे निवृत्तिमार्गगामी हैं अतएव वे अवधूत, गोस्वामी, साधु, उदासी, वैरागी, महापुरुष या इन्हींके पर्यायवाचक शब्दोंसे निरन्तर अभिहित होंगे । क्योंकि वे साधुमार्गावलम्बी हैं । त्याग, तप और ज्ञानके तारतम्यसे ॥ ५९-६३ ॥ उनके सम्मानमें भी तारतम्य रहेगा । विशेषतः वर्ण और अधिकारके तारतम्या-नुसार उन निवृत्तिमार्गावलम्बियोंका तारतम्य रहेगा । साधु लोग अपनेसे उच्चवर्णके लोगोंको दीक्षित न करें ॥ ६४-६५ ॥ उनका कायिक प्रणाम कभी ग्रहण न करें । ऐसा करनेसे वर्णाश्रमकी परम उन्नति

अन्यथा धर्म्ममर्यादाऽनादिसिद्धाऽपि नङ्क्ष्यति ।
उदासीना वा भवन्तु ब्राह्मणेतरवर्णजाः ॥ ६७ ॥
त्यागशीला वा भवन्तु रक्षेत नियमो हि तैः ।
अवश्यं धर्म्ममर्य्यादा पालनीया प्रयत्नतः ॥ ६८ ॥
कार्य्यं देवर्षिपितॄणां तैः सम्मानसुरक्षणम् ।
यत्नो विधेयः सर्वत्र सर्व्वेषां सर्व्वदा स्वतः ॥ ६९ ॥
भगवन्महिमप्रेम्णोः कीर्त्तने च प्रचारणे ।
कर्म्मण्युपास्तौ भक्तौ च रतानामधिकारिणाम् ॥ ७० ॥
जनयेयुर्बुद्धिभेदं न ते ज्ञानाऽभिमानिनः ।
परन्तु तेषां सततमधिकारोऽधिकारिणाम् ॥ ७१ ॥
शक्नोति वर्द्धितुं येन विधेया तत्र सम्मतिः ।
महर्षयोऽहमधुना निवृत्त्याश्रयवर्त्तिनां ॥ ७२ ॥
सन्न्यासिनां शुभकरं साधनं प्रब्रवीमि वः ।
निष्कामकर्म्माभ्यसनं कार्य्यं स्वस्वाऽधिकारतः ॥ ७३ ॥

साधिनो अनादिसिद्ध धर्ममर्यादा नष्ट हो जायगी । ब्राह्मणेतर वर्ण-चाहे तो उदासी हों ॥ ६६–६७ ॥ चाहे त्यागी हों, लोकहितकारी वर्णाश्रम धर्मसम्बन्धीय नियमोंकी रक्षा उन्हें करनी उचित है । उन्हें बड़े यत्नके साथ धर्मकी मर्यादा अवश्य पालन करनी चाहिये ॥६८॥ और देव, ऋषि एवं पितरोंके सम्मानकी सुरक्षाका कार्य करना चाहिये। भगवन्महिमा और भगवत्प्रेमके कीर्तन और प्रचारमें सदा सर्वत्र स्वयं और दूसरोंके द्वारा उन्हें यत्नवान् होना चाहिये, वे ज्ञानाभिमानी होकर कर्म उपासना और भक्तिमें रत अधिकारियोंका बुद्धिभेद न करें । किन्तु उनके साथ ऐसी सहानुभूति रक्खें, जिससे अधिकारियोंका अपना अपना यथावत् अधिकार बढ़ सके । हे महर्षिगण ! अब मैं निवृत्तिमार्गका आश्रय किये हुए संन्यासियोंके कल्याणकारी साधनको कहता हूं । संन्यासियोंको अपने अपने अधिकारानुसार निष्काम कर्मका अभ्यास करना चाहिये ॥ ६९–७३ ॥

उपासना यथाशक्ति तेषां परमश्रद्धया ।
शक्यतेऽहरहः सम्यक् ज्ञानं वर्द्धयितुं यथा ॥ ७४ ॥

मोक्षशास्त्रादिपाठेन क्रियेतैव तथैव तैः ।
तपोज्ञानविवृद्धानां देवतानाञ्च पूजनम् ॥ ७५ ॥

सम्माननं देवमूर्त्तिपीठानां कुर्य्युरेव ते ।
अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु क्षणमेकमपि द्विजः ॥ ७६ ॥

यतो ह्यनाश्रमी तिष्ठन् पतत्येव न संशयः ।
अतो गार्हस्थ्यभावेऽपि वैराग्यं समुपागतः ॥ ७७ ॥

तथा गृहस्थधर्म्मस्य पालने चाऽक्षमः पुमान् ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना ह्याश्रमान्तरमाविशेत् ॥ ७८ ॥

विप्रो वनाश्रमे स्थित्वा तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं सन्न्यासेन नयेत् क्रमात् ॥ ७९ ॥

और परम श्रद्धाके साथ यथाशक्ति उपासना भी करनी चाहिये। प्रतिदिन मोक्षशास्त्र आदिके पाठसे वे अपना ज्ञान भली भांति बढ़ावें और तदनुसार आचरण भी उन्हें करना चाहिये। तप एवं ज्ञानमें जो वृद्ध हैं, उनका और देवताओंका पूजन तथा देवमूर्त्तियों-के पीठोंका सम्मान उन्हें करना चाहिये। द्विजको कभी एक क्षणके लिये भी अनाश्रमी नहीं रहना चाहिये * ॥ ७४-७६ ॥ क्योंकि अनाश्रमी रहनेसे वह पतित होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः गृहस्थाश्रममें रहते हुए यदि वैराग्य प्राप्त हो या कोई गृहस्थधर्म—पालनमें असमर्थ हो, तो शास्त्रोक्त विधिसे ही आश्रमान्तर ग्रहण करना चाहिये ॥ ७७-७८ ॥ ब्राह्मण अपने आयुष्यका तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रममें बिताकर क्रमशः जीवनका चतुर्थ भाग सन्न्यासाश्रममें बितावें ॥ ७९ ॥ एक

---

* आर्यजातिके स्वाभाविक नेता ब्राह्मण वर्णमें उत्पन्न व्यक्तिको कदापि अनाश्रमी होकर एक क्षण भी नहीं रहना चाहिये। या तो वह ब्रह्मचारी रहे या गृहस्थ रहे या वानप्रस्थ रहे या सन्न्यासी हो जाय। अनाश्रमी होकर रहनेसे उसकी अवश्य अवनति होगी, यह महर्षियोंका सिद्धान्त है।

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते ॥ ८० ॥
अग्नीनात्मनि संस्थाप्य विप्रः प्रव्रजितो भवेत् ।
योगाभ्यासरतः शान्तो ब्रह्मविद्यापरायणः ॥ ८१ ॥
यदा मनसि सम्पन्नं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
तदा सन्न्यासमिच्छेत्तु पतितः स्याद्विपर्य्यये ॥ ८२ ॥
प्रजापत्यां निरूप्येष्टिं आग्नेयीमथवा पुनः ।
दान्तः पक्वकषायोऽसौ ब्रह्माश्रममुपाश्रयेत् ॥ ८३ ॥
सदन्ने वा कदन्ने वा लोष्टे वा काञ्चने तथा ।
समबुद्धिर्यस्य शश्वत् स संन्यासीति कीर्तितः ॥ ८४ ॥
शुद्धाचारद्विजान्नञ्च भुङ्क्ते लोभादिवर्जितः ।
किन्तु किञ्चिन्न याचेत स संन्यासीति कीर्तितः ॥ ८५ ॥
अयाचितोपस्थितञ्च मिष्टामिष्टञ्च भुक्तवान् ।
भक्षणार्थी न याचेत स संन्यासीति कीर्तितः ॥ ८६ ॥

आश्रमसे दूसरे आश्रममें जाकर, अग्निहोत्रादि सम्पन्न कर जितेन्द्रिय और भिक्षा एवं बलिसे परिश्रान्त होकर अन्तमें जो संन्यास ग्रहण करता है उसकी देह छूटनेपर अवश्य ही आध्यात्मिक उन्नति होती है ॥ ८० ॥ अग्निको आत्मामें स्थापन कर ब्राह्मणको सन्न्यासी होना चाहिये । योगाभ्यासनिरत, शान्त और ब्रह्मविद्या-में परायण होकर जब मनमें सब वस्तुओंसे विराग हो जाय, तब सन्न्यासकी इच्छा करनी चाहिये । इसका विपर्यय होनेसे वह पतित हो जाता है ॥ ८१-८२ ॥ प्रजापत्येष्टि अथवा आग्नेयी इष्टि कर दमशील होकर और वासनाओंका क्षय करके ब्रह्माश्रम अर्थात सन्न्यासाश्रमका आश्रय करना चाहिये ॥ ८३ ॥ सुस्वादु अथवा नीरस अन्नमें, पत्थर या सोनेमें जिसकी निरन्तर समबुद्धि रहे, वही सन्न्यासी है ॥ ८४ ॥ जिसका आचार शुद्ध हो ऐसे द्विजका अन्न लोभादि छोड़कर जो सेवन करता है और कुछ भी याचना नहीं करता, वह सन्न्यासी है ॥ ८५ ॥ विना मांगे मीठा कड़ुवा जो कुछ सामने आजाय उसको खाकर भोजनकी जो कभी याचना नहीं

सर्व्वत्र समबुद्धिश्च हिंसामायाविवर्जितः।
क्रोधाहङ्काररहितः स सन्न्यासीति कीर्तितः॥ ८७॥
तपसा कर्षितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
संन्यासीह स विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः॥ ८८॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यान्नित्यतृप्तो महामुनिः।
सम्यक् स दमसम्पन्नः स योगी भिक्षुरुच्यते॥ ८९॥
भैक्ष्यं श्रुतञ्च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः।
सम्यक् च ज्ञानवैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः॥ ९०॥
योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिको मोक्ष एव च।
तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमूर्तिसमाश्रितः॥ ९१॥
प्रथमा भावना पूर्व्वे मोक्षे त्वक्षरभावना।
तृतीये चान्तिमा प्रोक्ता भावना पारमेश्वरी॥ ९२॥
यतीनां यतचित्तानां न्यासिनामूर्ध्वरेतसाम्।
आनन्दं ब्रह्म तत्स्थानं यस्मान्नावर्त्तते मुनिः॥ ९३॥

करता, वही संन्यासी है ॥ ८६ ॥ जिसकी सर्वत्र समबुद्धि हो, जो हिंसा, माया, क्रोध, अहंकारसे रहित हो, वही संन्यासी है ॥८७॥ जो पूर्ण तपस्वी और ध्यानपरायण है, वानप्रस्थाश्रममें रहनेपर भी उसे संन्यासी ही जानना चाहिये ॥ ८८ ॥ जो आत्मामें रत, नित्यतृप्त और दमसम्पन्न है, वह महामुनि योगी भिक्षु कहा जाता है ॥ ८९ ॥ भिक्षावृत्ति, शास्त्राध्ययनमें प्रवृत्ति, मनोनिग्रह, तप, ध्यान, उत्तमज्ञान और विशेषतः वैराग्य येही भिक्षुके धर्म हैं ॥ ९० ॥ योगी तीन प्रकारके होते हैं, यथा—(१) भौतिक योगी (२) मोक्ष योगी और (३) अन्त्याश्रमी योगी, जो योग मूर्तिस्वरूप हैं ॥ ९१ ॥ पहिलेकी प्रथमा भावना, दूसरे (मोक्ष योगी) की अक्षर भावना और तीसरे (अन्त्याश्रमी) की पारमेश्वरी भावना होती है ॥ ९२ ॥ ऐसे अन्त्याश्रमी यतचित्त ऊर्ध्वरेता संन्यासी यतियोंके ब्रह्मानन्दका वही स्थान-परमपद-है, जहांसे वे मुनि लौट

योगिनाममृतं स्थानं व्योमाख्यं परमाक्षरम् ।
आनन्दमैश्वरं यस्मान्मुक्तो नावर्त्तते नरः ॥ ९४ ॥

ज्ञानसंन्यासिनः केचिद्वेदसंन्यासिनोऽपरे ।
कर्म्मसंन्यासिनस्त्वन्ये त्रिविधा परिकीर्तिताः ॥ ९५ ॥

यः सर्व्वसङ्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चाऽपि निर्भयः ।
प्रोच्यते ज्ञानसंन्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थितः ॥ ९६ ॥

वेदमेवाऽभ्यसेन्नित्यं निराशीर्निष्परिग्रहः ।
प्रोच्यते वेदसंन्यासी मुमुक्षुर्विजितेन्द्रियः ॥ ९७ ॥

यस्त्वग्नोनात्मसात् कृत्वा ब्रह्मार्पणपरो द्विजः ।
ज्ञेयः स कर्म्मसंन्यासी महायज्ञपरायणः ॥ ९८ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां ज्ञानी त्वभ्यधिको मतः ।
न तस्य विद्यते कर्म्म न लिङ्गाद्या विपश्चितः ॥ ९९ ॥

नहीं आते ॥ ९३ ॥ योगियोंके लिये अमृत, व्योमाख्य, परमाक्षर, आनन्दरूप और ईश्वरसम्बन्धीय वह स्थान है, जहांसे मुक्त पुरुष पुनः लौटकर नहीं आता ॥ ९४ ॥ तीन प्रकारके संन्यासी होते हैं। यथा—ज्ञानसन्न्यासी, वेदसन्न्यासी और कर्म्मसंन्यासी ॥ ९५ ॥ जो अपने आत्मामें ही रममाण, सर्वसंगरहित, निर्द्वन्द्व और निर्भय है, उसे ज्ञानसंन्न्यासी कहते हैं ॥ ९६ ॥ जो जितेन्द्रिय मुमुक्षु किसीसे कुछ नहीं लेता, आशा नहीं रखता और नित्य वेद-पाठ ही किया करता है, वह वेदसंन्न्यासी कहाता है ॥ ९७ ॥ जो द्विज अग्निको आत्मसात्कर ब्रह्मार्पणपरायण है, वह महायज्ञ-परायण कर्मसंन्यासी जानना चाहिये * ॥ ९८ ॥ इन तीनोंमें ज्ञानी संन्यासी ही सबसे श्रेष्ठ है । क्योंकि न उसे कोई कर्म है और न चिन्हादिकी ही अपेक्षा है ॥ ९९ ॥ वह मरण नहीं

---

* संन्यासीकी अवस्थाके ये तीन भेद विचारने योग्य हैं। केवल कर्मकाण्डकी सहायतासे बहिरग्निका आत्मामें समारोप करनेसे कर्मसन्यासी होता है। सर्वत्यागी व्यक्ति अर्थात् अंतःकरणसे त्याग होकर जिसको वैराग्य हो गया है, वह द्वितीय अवस्था है और आत्मज्ञानी सन्यासी सर्वोत्तम है।

नाभिनन्देत मरणं नाऽभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ १०० ॥
नाऽध्येतव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कदाचन।
एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०१ ॥
एकवासोऽथवा विद्वान् कौपीनाच्छादनोऽथवा।
मुण्डः शिखी वाऽथ भवेत् त्रिदण्डी निष्परिग्रहः ॥ १०२ ॥
काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः।
ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वासं देवालयेऽपि वा ॥ १०३ ॥
समः शत्रौ तथा मित्रे तथा मानापमानयोः।
भैक्ष्येण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेत् क्वचित् ॥ १०४ ॥
यस्तु मोहेन चाऽन्यस्मादेकान्नादी भवेद् यदि।
न तस्य निष्कृतिः काचिद् धर्म्मशास्त्रेषु कथ्यते ॥ १०५ ॥
रागद्वेषविमुक्तात्मा समलोष्ठाश्मकाञ्चनः।
प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मौनी स्यात्सर्व्वनिस्पृहः ॥ १०६ ॥

चाहता और जीना भी नहीं चाहता। वह आज्ञाकारी सेवककी तरह केवल कालकी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ १०० ॥ बन्धन करनेवाले शास्त्र पढ़ना, बोलना, सुनना, उसके लिये कुछ नहीं है। ऐसा ज्ञान-परायण योगी ब्रह्मत्वको प्राप्त करता है ॥ १०१ ॥ वह विद्वान् एक वस्त्र परिधान करे वा कौपीन ही धारण करे, चाहे मुण्डन करा दे या शिखा ही रखा ले, त्रिदण्ड ग्रहण करे अथवा कुछ भी न ले। काषायवस्त्रधारी, निरन्तर ध्यानयोगमें परायण, गांवके बाहर वृक्षके नीचे अथवा किसी देवालयमें जिसका वास हो ॥१०२-१०३॥ शत्रु मित्र और मान अपमानको जो समान समझता हो, जो भिक्षाकर जीवन बिताता हो और एकहीका अन्न न खाता, हो (यदि मोहसे किसी एक हीका अन्न खानेवाला वह हो जाय तो धर्मशास्त्रमें उसके लिये कोई निष्कृति नहीं है) रागद्वेषसे रहित, पत्थर और सोनेको एकसा समझनेवाला, प्राणिहिंसासे

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाणीं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १०७ ॥
दम्भाहङ्कारनिर्मुक्तो निन्दापैशून्यवर्ज्जितः ।
आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात् ॥ १०८ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं तपः परम् ।
क्षमा दया च सन्तोषो व्रतान्यस्य विशेषतः ॥ १०९ ॥
चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ ।
हंसः परमहंसश्च योऽत्र पश्चात्स उत्तमः ११० ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां सन्न्यासधर्म्मनिपरूणं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

शुक उवाच ।

परिव्राजकमूद्र्धन्य ! प्रभो सन्न्यासिनां गुरो ।
श्रुतोऽस्माभिश्चतुर्णां हि धर्म्मः साधारणोऽनघ ! ॥ १ ॥

निवृत्त, मनको दमन करनेवाला, इच्छारहित, देखकर चलनेवाला, छानकर जल पीनेवाला, सत्य बोलनेवाला, मनसे पवित्राचरण करनेवाला, दम्भ, अहङ्कार, निन्दा, दुष्टतादिसे रहित, आत्मज्ञानके गुणसे युक्त जो यति हो, वह मोक्ष प्राप्त करता है ॥१०४–१०८॥ ऐसे यतिके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तप, क्षमा, दया और सन्तोष ये व्रत हैं ॥ १०९ ॥ चार प्रकारके भिक्षु होते हैं। यथाः–कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस–इसमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीताका संन्यासधर्मनिरूपण नामक षष्ठाध्याय समाप्त हुआ ।

श्रीशुकदेवजी बोलेः—हे निष्पाप ! हे परिव्राजक श्रेष्ठ ! हे सन्न्यासियोंके गुरु ! हे प्रभो ! हमने चारों प्रकारके सन्न्यासियों

सन्न्यासिनां महाभाग ! कृपया श्रावयस्व नः।
कुटीचकस्य यः शास्त्रे विशिष्टो धर्म्म ईरितः ॥ २ ॥
पद्धतिर्या च संन्यासग्रहणे सम्मता सताम् ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

मुमुक्षुः सत्युपरते गार्हस्थ्याच्चेतसि ध्रुवम्।
वानप्रस्थं समाश्रित्य त्यागे पूर्णरुचिन्तथा ॥ ४ ॥
साधने योग्यतां लब्ध्वा संन्यासाश्रममाविशेत्।
यद्वा विषयवैतृष्ण्यमात्मज्ञानार्ज्जने तथा ॥ ५ ॥
उत्कटेच्छा प्रजायेत तदैव प्रव्रजेत्सुधीः।
यतो वै प्राणिनां लोके गतिर्भाविन्यनिश्चिता ॥ ६ ॥
कुटीचकानां लक्ष्यं तु वक्ष्यमाणं निशामय।
विषयवासनात्याग इन्द्रियाणाञ्च संयमः ॥७ ॥
दृष्टानुश्रविकाणां हि विषयाणां विशेषतः।
त्यागसंकल्प आख्यातः सकामस्य च कर्म्मणः ॥ ८ ॥

का साधारण धर्म सुन लिया ॥ १ ॥ अब हे महाभाग ! कुटीचक सन्न्यासियोंका शास्त्रमें जो विशिष्ट धर्म कहा है, उसे सुनाइये ॥२॥ और सन्न्यास ग्रहणकी सज्जन सम्मत पद्धतिका भी वर्णन कीजिये ॥३॥

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहाः—जब मुमुक्षुके चित्तमें गृहस्थाश्रमसे सच्ची उपरति हो जाय और जब वह वानप्रस्थाश्रमका आश्रय कर पूर्ण त्यागी बन जाय एवं जब वह साधनमें योग्यता प्राप्त कर ले, तब उसे सन्न्यासाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। अथवा विषयोंसे विरक्ति और आत्मज्ञान प्राप्तिकी उत्कट इच्छा जब हो, तभी बुद्धिमान् मनुष्यको सन्न्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि संसारमें प्राणियोंकी अनिश्चित गति हुआ करती है ॥४–६॥ अब कुटीचकोंका लक्ष्य कहता हूं, सुनिये। विषयवासनाका त्याग, इन्द्रियोंका संयम, विशेषतया दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंका सङ्कल्प त्याग,

त्यागस्तथा गृहस्थानां वानप्रस्थगतस्य च।
धर्म्मस्य त्यागः कथितो देहाध्यासनिवारणे ॥ ९ ॥
तथा प्रयत्नो बहुधा सर्व्वकर्म्मस्वपि ध्रुवम्।
आत्मनैव समं योगो योगसाधनमेव च ॥ १० ॥
पराभक्तेस्तथा लाभस्तत्त्वज्ञानागमश्च ह।
विषयेषु च वैराग्यं संन्यासे तीव्रकाङ्क्षिता ॥ ११ ॥
यदा जायेत विप्रस्य तदैव प्रव्रजेद् गृहात्।
कस्यचिदुपयुक्तस्य गुरोः संन्यासिनोऽन्तिके ॥ १२ ॥
बद्धाञ्जलिर्नतशिरा दीक्षामभ्यर्थयेत् स्वयं।
इत्थं कुटीचकव्रतं प्रार्थयित्वा द्विजोत्तमः ॥ १३ ॥
प्रसाद्य देवर्षिपितॄन् देशे काले गुणान्विते।
आकाङ्क्षेत ततो धीरः संन्यासव्रतधारणम् ॥ १४ ॥
कामिनीकाञ्चनत्यागो यावज्जीवनधारणम्।
निष्कामकर्म्मणोऽभ्यासो गुरौ भक्तिर्निरन्तरा ॥ १५ ॥
ब्रह्मणि च पराभक्तिस्तत्त्वज्ञानावलम्बनात्।
अद्वैतभावनासिद्धिरेतत्सर्वं समासतः ॥ १६ ॥

सकाम कर्म त्याग ॥ ५-८ ॥ गृहस्थोंके और वानप्रस्थोंके धर्मोंका त्याग, सब कर्मोंके करनेमें देहाध्यास निवारणके लिये बहुधा निश्चित रूपसे प्रयत्न, आत्माके साथ योग, योगसाधन, पराभक्तिका लाभ, तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति, विषयोंमें वैराग्य और सन्न्यासकी तीव्र आकांक्षा, ये सब बातें जब हों, तभी ब्राह्मणको घरसे निकल जाना चाहिये। फिर किसी उपयुक्त सन्न्यासीके निकट जाकर ॥ ९-१२ ॥ हाथ जोड़ सिर झुकाकर दीक्षाके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। इस प्रकार कुटीचकव्रतके लिये प्रार्थना कर और अच्छे देशकालमें देव, ऋषि और पितरोंको सन्तुष्ट कर उस धीर द्विजश्रेष्ठको सन्न्यास व्रत धारण करनेकी इच्छा करनी चाहिये ॥ १३-१४ ॥ आजन्म कामिनी काञ्चनका त्याग, निष्काम कर्मोंका अभ्यास, निरन्तर गुरुभक्ति, ब्रह्मकी पराभक्ति, तत्त्वज्ञान

सन्न्यासदीक्षाग्रहणे प्रधानं लक्ष्यमीरितम्।
आतुरस्य तु सन्न्यासे विशेषः कोऽपि नो विधिः ॥१७॥
अल्पान्नाऽभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ १८ ॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ १९ ॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ २० ॥
प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञिकः।
नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः ॥ २१ ॥
आतुरेऽपि च सन्न्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम्।
मन्त्रावृत्तिञ्च कृत्वैव सन्न्यसेद्विधिवद्बुधः ॥ २२ ॥
आतुरेऽपि क्रमे वाऽपि प्रैषभेदो न कुत्रचित्।
न मन्त्रः कर्मरहितः कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥ २३ ॥

के अवलम्बनसे अद्वैत भावनाकी सिद्धि, यही सब सन्न्यास दीक्षा ग्रहणमें प्रधान लक्ष्य कहे गये हैं। आतुर सन्न्यासके लिये कोई विशेष विधि नहीं है ॥ १५-१७ ॥ अल्प अन्न खाकर और एकान्त वास कर अशक्त हुई इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करना चाहिये ॥१८॥ ब्राह्मण प्रणव और व्याहृतिसे युक्त तीन ही प्राणायाम यदि यथा-विधि करे, तो वही परम तप जानना चाहिये ॥ १९ ॥ जिस प्रकार अग्निमें तपानेसे धातुके मल जल जाते हैं उसी प्रकार प्राणायाम करनेसे इन्द्रियोंके दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ २० ॥ जब बिलकुल प्राण निकलते हों, वही काल आतुर संज्ञक है। दूसरा कोई आतुर काल मुक्तिमार्गप्रवर्तक नहीं है ॥ २१ ॥ आतुर सन्न्यासमें भी उन उन मन्त्रों सहित मन्त्रावृत्ति कर विधिपूर्वक विद्वान् पुरुष सन्न्यास ग्रहण करे ॥ २२ ॥ आतुर सन्न्यास या क्रमसन्न्यासमें प्रैषभेद कहीं नहीं है। कोई मन्त्र कर्मरहित नहीं है और हर एक कर्म मन्त्र

अकर्म मन्त्ररहितं नाऽतो मन्त्रं परित्यजेत्।
मन्त्रं विना कर्म्म कुर्यात् भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥ २४ ॥
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात् सन्न्यासस्त्वातुरः स्मृतः।
तस्मादातुरसन्न्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥ २५ ॥
आहिताऽग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि।
प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निवृत्त्यैवाऽथ सन्न्यसेत् ॥ २६ ॥
मनसा वाऽथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याऽथवा जले।
श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा ॥ २७ ॥
आतुरस्य तु सन्न्यासे प्रैषमात्रं हि केवलम्।
न श्राद्धादि न चाऽन्यत् स्याज्जलमध्यादिसर्पणम् ॥ २८ ॥
प्रैषं वक्तुमशक्तश्चेद्वाचाऽसौ मनसैव हि।
प्रैषं कुर्यात्स्वयं धीरो मरणे समुपस्थिते ॥ २९ ॥
आतुराणां तु सन्न्यासे न विधिर्नैव च क्रिया।
प्रैषमात्रं समुच्चार्य्य सन्न्यासं तत्र कारयेत् ॥ ३० ॥

की अपेक्षा रखता है ॥ २३ ॥ मन्त्ररहित कर्म्म अकर्म्म मात्र है, इसलिये मन्त्रका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। मन्त्रके विना कर्म्म करना राखमें आहुति देनेके बराबर है ॥ २४ ॥ संक्षेपसे सन्न्यासका विधियुक्त कर्म करनेको आतुर सन्न्यास कहते हैं। इसलिये हे मुने! आतुर सन्न्यासमें भी मन्त्रावृत्तिकी विधि है ॥ ॥ २५ ॥ अग्निहोत्री विरक्त होकर यदि देशान्तरमें गया हुआ हो तो प्रजापत्येष्टि जलमें ही निपटाकर उसे सन्न्यास ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ २६ ॥ मनसे यथाविधि मन्त्रावृत्ति करे अथवा जलमें बैठ कर वेदोक्त मार्गसे यथाविधि कर्मानुष्ठान करे ॥ २७ ॥ आतुर सन्न्यासमें केवल प्रैषमात्र है। न उसे श्राद्ध है और न जलमें ही बैठना होता है ॥ २८ ॥ प्रैष कहनेमें अशक्त हो और प्राणोत्क्रमण-का समय उपस्थित हो गया हो, तो धीर पुरुष स्वयं मानसिक वाणीसे प्रैष कहे ॥ २९ ॥ आतुर सन्न्यासमें न कोई विधि है और न कोई क्रिया है। केवल प्रैषका उच्चारण कर सन्न्यास कर देना

तनुं त्यजेद्धि यो विप्रः कृत्वा सन्न्यासमात्मवान्।
मानसाद्वाचकाद्वाऽपि प्रेषादेवाऽत्र जायते ॥ ३१ ॥
कालान्तरेऽथवा सद्यो ब्रह्मलोकं स गच्छति।
सन्न्यस्तमिति यो ब्रूयात्प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ३२ ॥
न तत्क्रतुसहस्रेण फलं प्राप्नोति मानवः।
सन्न्यस्तमिति यो ब्रूयात्प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ३३ ॥
स सूर्यमण्डलं भित्त्वा ब्रह्मलोके महीयते।
ब्रह्मणो मरणे तेन ब्रह्मणा सह धैर्य्यवान् ॥ ३४ ॥
महाभूतक्षये प्राप्ते परं ब्रह्माऽधिगच्छति।
आपत्काले तु सन्न्यासः कर्त्तव्य इति शिष्यते ॥ ३५ ॥
जरयाऽभिपलीतेन शत्रुभिर्व्यथितेन च।
सन्न्यसन्नातुरो विप्रो यदि जीवति चेत्पुनः ॥ ३६ ॥
कर्त्तव्यः क्रमसन्न्यास आत्मश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणा।
ततो नैमित्तिकान्पितॄन्सन्तर्प्य विधिपूर्वकम् ॥ ३७ ॥

चाहिये ॥ ३० ॥ सन्न्यास ग्रहण कर जो ब्राह्मण शरीर छोड़ता है, और जिसका यहां पर मानसिक अथवा वाचनिक प्रेष हो जाता है, वह कालान्तरमें अथवा तुरन्त ब्रह्मलोकको पहुँचता है। जब कण्ठमें प्राण आ जाते हैं, तब यदि कोई 'सन्न्यस्तं' इतना ही कह दे तो उस पुरुषको ऐसा फल मिलता है जो हजार यज्ञ करनेसे भी नहीं मिलता। मरनेके समय यदि कोई 'सन्न्यस्तं' कहदे ॥ ३१-३३ ॥ तो वह सूर्यमण्डलको भेद कर ब्रह्मलोकमें पहुंचता है। ब्रह्माजीके लयके समयमें और महाभूतोंका क्षय होते समय वह धीर पुरुष ब्रह्माके साथ परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। आपत्कालमें सन्न्यास लेलेना चाहिये, ऐसा भी कहा है ॥ ३४-३५ ॥ जरासे जर्ज्जर होनेके कारण अथवा शत्रुसे पीड़ित होनेके कारण आतुर सन्न्यास लेने पर भी यदि वह ब्राह्मण जी जाय, तो उस आत्म-कल्याणकी चाहना करने वालेको फिर क्रमसन्न्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। अनन्तर नैमित्तिक पितरोंका विधिपूर्वक सन्तर्पण

नैमित्तिकाँस्तथा देवान्प्रसाद्य सन्न्यसेद्बुधः ।
यतो वै दैवशक्तीनां पैतृकीणामिमे तथा ॥ ३८ ॥
प्रत्यक्षप्रतिनिधय आम्नाता सकला अपि ।
नैमित्तिकास्तु पितरो यावत्सप्तमपूरुषम् ॥ ३९ ॥
प्राधान्येनैव विज्ञेया देवा नैमित्तिकास्त्वमी ।
कुलदेवा ग्राम्यदेवा वास्तुदेवा प्रधानतः ॥ ४० ॥
गुरोः पुरोधसश्चैव ज्ञानवृद्धनृणां तथा ।
अध्यात्मसम्बन्धयुजामेतेषामपि तोषणम् ॥ ४१ ।
कृत्वैव प्रव्रजेद्धीमान् चतुर्थेह्याश्रमे शुचिः ।
यदि संस्कारशेषः स्यात्स्वयं स्वश्राद्धमाचरेत् ॥ ४२ ॥
कुटीचकस्तु सन्न्यासी योगसाधनसंयमौ ।
अभ्यसेद्धि विशेषेण पञ्चसाकारब्रह्मसु ॥ ४३ ॥
कस्मिंश्चिद्यत्र मनसोरुचिरुग्राऽस्ति तस्य वै ।
तस्मिन्रूपे सदा ध्यायन् ब्रह्मोपासनमाचरेत् ॥ ४४ ॥
आत्मीयकुलजातीनां त्यक्त्वा सम्बन्धमप्युत ।
शरीरयात्रां निर्वोढुं धर्म्मात्मन्यात्मजे सति ॥ ४५ ॥

कर और नैमित्तिक देवताओंको प्रसन्न कर, उस विद्वान्को सन्न्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि दैवी शक्ति और पैतृकी शक्तिके ये सब प्रत्यक्ष प्रतिनिधिस्वरूप माने गये हैं। नैमित्तिक पितर सात पुरुष तक प्रधानतया मानने चाहियें और नैमित्तिक देवोंमें कुलदेव, ग्राम्यदेव एवं वास्तुदेव प्रधान हैं ॥ ३८-४० ॥ गुरु, पुरोहित, ज्ञानवृद्ध और अध्यात्मसम्बन्धयुक्त-पुरुषोंको सन्तुष्ट कर बुद्धिमान् पुरुष पवित्रतासे चतुर्थाश्रममें प्रवेश करे। यदि उसके संस्कार शेष रह गये हों तो वह स्वयं अपना श्राद्ध करले ॥ ४१-४२ । कुटीचक सन्न्यासीको विशेषतया योग साधन और संयमका अभ्यास करना चाहिये । पांच साकार ब्रह्ममेंसे (अर्थात् सगुण पञ्च मूर्तियोंमेंसे) जिसमें उनके मनकी उत्कट रुचि हो, उसीके रूपका सदा ध्यान कर उसे ब्रह्मोपासना करनी चाहिये ॥ ४३-४४ ॥ आत्मीय, कुल और जातिसे सम्बन्ध त्याग

कुटीचकस्तु गृह्णीयादन्नवस्त्रे ततोऽपि च।
एतत्त्वाश्रमनिष्ठानां यतीनां नियतात्मनाम् ॥ ४६ ॥
भैक्षेण वर्तनं प्रोक्तं फलमूलैरथाऽपि वा।
एककालं चरेद्भैक्ष्यं न प्रसज्येत विस्तरे ॥ ४७ ॥
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति।
सप्तागारं चरेद्भैक्षमलाभे द्वे पुनश्चरेत् ॥ ४८ ॥
प्रक्षाल्य पात्रे भुञ्जीयादद्भिः प्रक्षालयेत्तु तत्।
अथवाऽन्यदुपादाय पात्रं भुञ्जीत नित्यशः ॥ ४९ ॥
भुक्त्वा च संत्यजेत्पात्रं यात्रामात्रमलोलुपः।
विधूमे सन्नमुषले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ॥ ५० ॥
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्।
गोदोहमात्रं तिष्ठेत कालं भिक्षुरधोमुखः ॥ ५१ ॥

कर शरीर यात्राका निर्वाह करनेके लिये, यदि धर्मात्मा पुत्र हो, तो उससे भी कुटीचक अन्न वस्त्र ले सकता है। ऐसे आश्रमनिष्ठ नियतात्मा यतियोंको भिक्षा वृत्तिसे अथवा फलमूल खाकर रहनेकी आज्ञा है। उसे भिक्षा भी रात दिनमें एकबार और थोड़ी*ग्रहण करनी चाहिये ॥ ४५–४७ ॥ क्योंकि भिक्षामें आसक्ति होनेसे यति विषयोंकी ओर प्रवृत्त होता है। सात घर भिक्षार्थ फिरना चाहिये और इतनेपर यदि भिक्षा न मिले तो दो घर और भी जाना चाहिये ॥४८॥ अन्नको धोकर पात्रमें वह भोजन करे और पश्चात् उस पात्रको जलसे धो डाले। अथवा नित्य नवीन पात्र लाकर उसमें भोजन करे। केवल शरीर यात्रार्थ भोजन कर उस पात्रको निर्लोभ होकर फेंक दे। जिस गृहमें धुआँ न निकलता हो, मूसल न बजता हो, अङ्गार न देख पड़ते हों, जहांके लोगोंका भोजन हो गयासा हो और पत्तल बाहर फेंक दिये हों वहां प्रतिदिन यतिको भिक्षार्थ जाना चाहिये। गोदोहन-

---

* थोड़ी कहनेसे तात्पर्य यह है कि, जो अष्टप्रहरके लिये पर्याप्त हो और अति भोजन भी न हो।

भिक्षेत्युक्त्वा सकृत्तूष्णीमश्नीयाद्वाग्यतः शुचिः।
प्रक्षाल्य पाणिपादौ च समाचम्य यथाविधि॥ ५२॥
आदित्ये दर्शयित्वाऽन्नं भुञ्जीत प्राङ्मुखोऽत्वरः।
हुत्वा प्राणाहुतीः पञ्च ग्रासानष्टौ समाहितः॥ ५३॥
आचम्य देवं ब्रह्माणं ध्यायीत परमेश्वरम्।
अलावुं दारुपात्रञ्च मृण्मयं वैणवं तथा॥ ५४॥
चत्वारि यतिपात्राणि मनुराह प्रजापतिः।
प्रदोषे परात्रे च मध्यरात्रे तथैव च॥ ५५॥
सन्ध्यास्वह्नि विशेषेण चिन्तयेन्नित्यमीश्वरम्॥ ५६॥
विष्णुश्चिदा यस्तु सता शिवः सन्।
स्वतेजसाऽर्कः स्वधिया गणेशः॥
देवी स्वशक्त्या कुशलं विधत्ते।
कस्मैचिदस्मै प्रणतिः सदाऽऽस्ताम्॥ ५७॥
त्रिपुरदलनदक्षश्चन्द्रखण्डावतंसः।
कलितभसितलेपो हस्तविन्यस्तशूलः॥

को जितना समय लगता है, उतने समय तक वह कुटीचक भिक्षु हरएक घरमें नीचे सिर कर भिक्षा शब्द उच्चारण करके और पवित्रता पूर्वक मौनी होकर भिक्षा करे फिर हाथ पैर धोकर, यथाविधि आचमन कर और सूर्यको अन्न दिखा कर पूर्वाभिमुख बैठ शान्तिके साथ वह भिक्षा ग्रहण करे। पांच प्राणाहुतियोंका हवन कर और आठ ग्रास लेकर पुनः आचमन करे एवं ब्रह्माका तथा परमेश्वरका ध्यान करे। तुम्बीका, काठका, मिट्टीका एवं बाँसका ॥ ४६–५४॥ ये चार प्रकारके पात्र मनुप्रजापतिने यतियोंके लिये कहे हैं। प्रदोष, पररात्र, मध्यरात्र, सन्ध्या और विशेष कर दिनमें प्रतिदिन ईश्वरचिन्तन करना चाहिये॥ ५५–५६॥ विष्णु चित् शक्तिसे, सदाशिव सत् शक्तिसे, सूर्य अपने तेजसे, श्रीगणेश अपनी बुद्धिसे और देवी अपनी शक्तिसे जगत्का कल्याण करती है, उनको सदा प्रणाम है॥ ५७॥ जो त्रिपुरासुरको मारनेमें कुशल है, जिन्होंने अर्धचन्द्र धारण किया है, भस्म-

भवतु तव कपर्दी क्रीड़दुन्मत्तगङ्गो।
दधदधितनु देवीं त्र्यम्बको मङ्गलाय ॥ ५८ ॥
जयति सकलविघ्नध्वान्तविध्वंससूर्यो।
मदपरिमललुब्धैः सेव्यमानो मिलिन्दैः ॥
निजचरणपरेभ्यो दिव्यभोगस्य दाता।
विलसितरददण्डो हस्तितुण्डो गणेशः ॥ ५९ ॥
मघवमुखसुराणामुत्तमाङ्गेषु यस्याः।
चरणनखरभासो माल्यभावं भजन्ति ॥
महिषकदनचण्डैः सायुधैर्बाहुदण्डै–
र्जयति विकटमूर्तिः प्रेयसी त्र्यम्बकस्य ॥ ६० ॥
वहति वियति यस्य स्यन्दनं सप्तसप्तिः।
सततमनुभचक्रं चोद्यमानोऽरुणेन ॥
स जयति तिमिराणां तत्क्षणे लब्धदीक्षो।
विरतविधुविकाशो बान्धवः पङ्कजानाम् ॥ ६१ ॥

धारी, जिनके हाथमें त्रिशूल है और शिरपर गङ्गा उन्मत्त होकर क्रीड़ा कर रही हैं, अर्धाङ्गमें जगदम्बाको धारण किये हुए कपाल धारण करनेवाले तीन नेत्रवाले शिवजी आपका मङ्गल करें ॥ ५८ ॥ जो सकल विघ्नोंके अन्धकारको हटानेमें सूर्यके समान हैं, गण्ड-स्थलके मदकी सुगन्धिसे लुब्ध होकर भ्रमरगण जिनकी सेवा कर रहे हैं, चरणोंमें रत मनुष्यको जो दिव्य भोग प्रदान करते हैं, जिनका दण्डस्वरूप दन्त शोभा पा रहा है, उन गजानन गणनायकका जयजयकार हो ॥ ५९ ॥ इन्द्रादि देवताओंके शिरोंपर जिसके पदके नखोंकी प्रभा पुष्पोंके समान सुशोभित है, आयुधों सहित बाहुदण्डोंसे और प्रचण्ड महिषासुरके वधसे जिसकी मूर्ति विकट हो रही है, उस त्रिलोचन सदाशिवकी प्रियाका जयजयकार हो ॥ ६० ॥ आकाशमें नक्षत्र मण्डलमेंसे जिनका रथ अरुणदेव निरन्तर हांक कर ले जाते हैं, जो अन्धकार नाश करनेमें प्रवृत्त हैं, जिन्होंने चन्द्रमाका प्रकाश मन्द कर दिया है और जो कमलोंके मित्र हैं, उन सूर्यनारायणका जयजयकार हो

अधिसलिलधितल्पीकृत्य शेषं शयानो ।
द्रुहिणमभिनुवन्तं नाभिपद्मे दधानः ॥
चरणयुगलमङ्के क्लृप्तवानिन्दिरायाः ।
सजलजलदकान्तिः पातु नारायणो वः ॥ ६२ ॥

स्वस्वाकाशादिभूतप्रकृतिगुणयुजां साधकानां विमुक्त्यै ।
ब्रह्मैवैकं स्वमायाशवलितमभवत्पञ्चदेवात्मकं तत् ।
नामाकारक्रियाभिर्वियदिव न भिदा वस्तुतोऽस्तीति तत्त्वम् ।
एकं पञ्चाऽपि पञ्चैकमपि बुधजनाः शान्तिसौख्यं भजन्तु॥६३॥

एषु पञ्चसु रूपेषु यस्य कस्याऽपि निश्चितम् ।
गुरुणैवोपदिष्टेषु ध्यानं कुर्य्याद्यतात्मवान् ॥ ६४ ॥
सच्चिदेकं ब्रह्म इति रूपेण मुनिपुङ्गव !
व्रतानि यानि भिक्षूणां तथैवोपव्रतानि च ॥ ६५ ॥

एकैकातिक्रमे तेषां प्रायश्चित्तं विधीयते ।
उपेत्य च स्त्रियं कामात्प्रायश्चित्तं समाहितः ॥ ६६ ॥

॥ ६१ ॥ जो समुद्रमें शेषशय्या पर शयन किये हैं, जिन्होंने विनीत ब्रह्माको नाभिकमलमें धारण किया है और जिनके चरणोंकी सेवा लक्ष्मीजी कर रही हैं, वे घननील नारायण आपको पावन करें ॥ ६२ ॥ आकाशादि पञ्चमहाभूतोंकी प्रकृतिके गुणोंसे युक्त अपने अपने साधकोंकी मुक्तिके लिये एक ही ब्रह्म अपनी मायासे युक्त होकर पञ्च देवात्मक हो गया है। नाम आकार और क्रियाओंसे यद्यपि पांचों भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि वस्तुतः आकाशकी तरह वे एक ही हैं। अतः पांचोंको एक और एकको ही पांच जानकर बुधजन शान्ति सौख्यका लाभ करें * ॥ ६३ ॥ हे मुनि श्रेष्ठ! इन पांचों रूपोंमें जिस किसीका उपदेश गुरुने किया हो, उसका ध्यान सच्चिदेकं ब्रह्मरूपसे एकाग्र होकर करना चाहिये। सन्न्यासियोंके जो व्रत और उपव्रत हैं उनमेंसे एकका भी यदि अतिक्रम हो जाय तो प्रायश्चित्त होता है। कामेच्छासे यदि

---

* ये मन्त्रयोगोक्त पञ्चोपासनाके स्थूल ध्यान हैं।

प्राणायामसमायुक्तं कुर्यात्सान्तपनं शुचिः ।
ततश्चरेत नियमान् कृत्स्नान् संयतमानसः ॥ ६७ ॥

पुनराश्रममागत्य चरेद्भिक्षुरतन्द्रितः ।
न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्तीति मनीषिणः ॥ ६८ ॥

तथापि न च कर्त्तव्यः प्रसङ्गो ह्येष दारुणः ।
एकरात्रोपवासश्च प्राणायामशतं तथा ॥ ६९ ॥

उक्त्वाऽनृतं प्रकर्त्तव्यं यतिना धर्मलिप्सुना ।
परमापद्गतेनाऽपि न कार्य्यं स्तेयमन्यतः ॥ ७० ॥

स्तेयादभ्यधिकः कश्चित् नास्त्यधर्म इति स्मृतिः ।
हिंसा चैषा परा तृष्णा याञ्चाऽऽत्मज्ञाननाशिका ॥ ७१ ॥

यदेतद्द्रविणं नाम प्राणास्ते तु बहिश्चराः ।
स तस्य हरते प्राणान्यो यस्य हरते धनम् ॥ ७२ ॥

एवं कृत्वा स दुष्टात्मा भिन्नवृत्तौ व्रतच्युतः ।
भूयो निर्वेदमापन्नश्चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ ७३ ॥

वह स्त्रीके निकट जाय, तो प्रायश्चित्त कर प्राणायामयुक्त सान्तपन करे तब वह शुद्ध होगा। फिर वह सन्न्यासी संयमी हो पुनः अपने आश्रममें आकर निरलसभावसे समस्त नियमोंका पालन करे। हे मनीषियों ! यद्यपि हंसीमें झूठ बोलना पापजनक नहीं होता है, तथापि सन्न्यासीको ऐसा दारुण प्रसङ्ग कभी नहीं आने देना चाहिये। एक रात्र उपवास और सौ प्राणायाम झूठ बोलनेके प्राय-श्चित्तार्थ धर्मात्मा यतिको करने चाहिये। परम आपत्तिमें पड़ने पर भी कभी चोरी नहीं करनी चाहिये ॥ ६४–७० ॥ ऐसा कहा है कि, चोरीसे बढ़कर कोई अधर्म नहीं है। हिंसा, अत्यन्त तृष्णा और याञ्चा आत्मज्ञानको नाश कर देती है ॥ ७१ ॥ द्रव्य वालेका द्रव्य उसके बहिःस्थित प्राणरूप है। यदि कोई किसीका धन अपहरण करे तो वह धन नहीं, उसके प्राण ही हरण करता है ॥ ७२ ॥ चोरी करनेसे वह दुष्टात्मा भिन्न वृत्ति और व्रतसे च्युत होता है, उसे लज्जित होकर चान्द्रायण व्रत करना चाहिये॥७३॥ यह व्रत शास्त्रोक्त

विधिना शास्त्रदृष्टेन सम्वत्सरमिति श्रुतिः।
भूयो निर्वेदमापन्नश्चरेद्भिक्षुरतन्द्रितः॥ ७४॥
अकस्मादपि हिंसां तु यदि भिक्षुः समाचरेत्।
कुर्यात्कृच्छ्रातिकृच्छ्रन्तु चान्द्रायणमथापि वा॥ ७५॥
स्कन्देदिन्द्रियदौर्बल्यात् स्त्रियं दृष्ट्वा यतिर्यदि।
तेन धारयितव्या वै प्राणायामास्तु षोड़श॥ ७६॥
दिवा स्वप्ने त्रिरात्रं स्यात्प्राणायामशतं तथा।
एकान्ने मधुमांसे च नवश्राद्धे तथैव च॥ ७७॥
प्रत्यक्षलवणे चोक्तं प्राजापत्यं विशोधनम्।
ध्याननिष्ठस्य सततं नश्यते सर्वपातकम्॥ ७८॥
तस्मान्महेश्वरं ध्यात्वा तस्य ध्यानरतो भवेत्।
यद्ब्रह्म परमं ज्योतिः प्रतिष्ठाक्षयमक्षयम्॥ ७९॥
योऽन्तरात्मा परं ब्रह्म स विज्ञेयो महेश्वरः।
एष देवो महादेवः केवलं परमेश्वरः॥ ८०॥
तदेवाऽक्षयमद्वैतं तदादित्यान्तरं परम्।
यस्मान्महीयते देवः स्वधाम्नि ज्ञानसंज्ञिते॥ ८१॥

विधिसे एक वर्ष पर्यन्त करे और संकोचके साथ निरलस होकर भ्रमण करे॥ ७४॥ सन्न्यासी यदि अकस्मात् हिंसा करे, तो उसे कृच्छ्रातिकृच्छ्र अथवा चान्द्रायण व्रत करना चाहिये॥ ७५॥ स्त्रीको देखकर इन्द्रियकी दुर्बलताके कारण यतिका वीर्यपात हो, तो उसे सोलह प्राणायाम करने चाहिये॥ ७६॥ दिनमें यदि सोवे तो तीनरात्र सौ प्राणायाम करे। एकहीका अन्न ग्रहण करे, मद्य मांस भक्षण करे अथवा नवश्राद्धमें जाय॥ ७७॥ या प्रत्यक्ष लवण खाय तो उसकी शुद्धिके लिये प्राजापत्य व्रत करे। ध्याननिष्ठके सब पातक नष्ट हो जाते हैं॥ ७८॥ इसलिये महादेवका ध्यान कर उन्हींके ध्यानमें उसे रत हो जाना चाहिये। क्योंकि वही परम ज्योतिर्मय ब्रह्मप्रतिष्ठाका स्थान और कभी क्षय होनेवाला नहीं है॥ ७९॥ जो अन्तरात्मा है, वही परब्रह्म महेश्वर है। वही देवाधिदेव केवल परमेश्वर है॥ ८०॥ वही अक्षय और अद्वैत है, वही परम

आत्मयोगाह्वये तत्त्वे महादेवस्ततः स्मृतः ।
नाऽन्यं देवं महादेवात् व्यतिरिक्तं प्रपश्यति ॥ ८२ ॥

तमेवात्मानमन्वेति यः स याति परं पदम् ।
मन्यन्ते ये स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात् ॥ ८३ ॥

न ते पश्यन्ति तं देवं वृथा तेषां परिश्रमाः ।
एकमेवपरं ब्रह्म विज्ञेयं तत्त्वमव्ययम् ॥ ८४ ॥

स देवस्तु महादेवो नैतद्विज्ञाय बध्यते ।
तस्माद्यत्नेन नियतं यतिः संयतमानसः ॥ ८५ ॥

ज्ञानयोगरतः शान्तो महादेवपरायणः ।
एष वः कथितो विप्रा यतीनामाश्रमः शुभः ॥ ८६ ॥
पितामहेन प्रभुणा मुनीनां पूर्वमीरितः ॥ ८७ ॥

इति श्रीसंन्यासगीतायां कुटीचकधर्मनिरूपणं
नाम सप्तमोऽध्यायः ।

ज्योति आदित्यमें निहित है । क्योंकि ज्ञान संज्ञक अपने धाममें वही देव पूजे जाते हैं ॥ ८१ ॥ आत्मयोग नामक तत्त्वमें महादेव ही कहे गये हैं । महादेवके अतिरिक्त दूसरा कोई देव नहीं देखा जाता ॥ ८२ ॥ जो उनको अपने आत्मामें खोजता है, वही परम पदको प्राप्त करता है । अपने आत्माको जो परमेश्वरसे भिन्न मानते हैं । वे उस देवको नहीं देख सकते । उनका परिश्रम व्यर्थ है । परब्रह्म एक ही है इस अव्यय तत्त्वको जान लेना चाहिये ॥ ८३-८४ ॥ और वह देव महादेव ही हैं यह जान लेनेपर कोई बद्ध नहीं होता । इसलिये बड़े यत्नके साथ संयमी संन्यासी नियमितरूपसे ज्ञान योगमें रत और शान्त चित्तसे महादेव परायण हो जावे । यह मैंने हे विप्रो ! यतियोंके शुभ आश्रमका वर्णन किया है, जो पहिले मुनियोंके स्वामी ब्रह्माने कहा था ॥ ८५-८७ ॥

इस प्रकार संन्यासगीताका कुटीचकधर्मनिरूपण नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ ।

शुक उवाच ।

ज्ञानिनामग्रणीः ! ब्रह्मन् ! श्रुतोऽस्माभिः सविस्तरः ।
कुटीचकस्य धर्मोऽयं विशिष्टस्त्वदनुग्रहात् ॥ १ ॥
बहूदकस्य यो धर्मो विशिष्टः समुदाहृतः ।
श्रावयाऽस्मानिदानीं त्वं भक्तानुग्रहकारकः ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

कुटीचकस्तु संन्यासी पूर्वलक्षणलक्षितः ।
त्रिभिरेव हि वर्षैस्तु स बहूदकतां श्रयेत् ॥ ३ ॥
तत्त्वज्ञानेऽग्रसरतां विना किन्तु न तामियात् ।
बहूदकस्य धर्म्मेषु विशिष्टानि मुनीश्वराः ॥ ४ ॥
सर्वप्रधानानि तथा लक्ष्यानीमानि यानि वै ।
विश्वात्मना समं स्वस्य चैक्ये यत्नो विशेषतः ॥ ५ ॥
जगद्ब्रह्म स्वरूपं वै ज्ञात्वा निष्कामकर्मकृत् ।
केवलं स भवेन्नित्यं व्रतेऽस्मिन्निरतः शुचिः ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोलेः–हे ज्ञानियोंमें अग्रणी ब्रह्मन् ! आपके अनुग्रह से हमने कुटीचकका उक्त विशेष धर्म्म सविस्तर सुना ॥ १ ॥ अब आप बहूदकका जो विशेष धर्म्म कहा गया है वह हमलोगोंको सुनाइये क्योंकि आप भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं ॥ २ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोलेः–पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त कुटीचक संन्यासी तीन वर्षोंके बाद बहूदक धर्मका आश्रय करे ॥ ३ ॥ परन्तु वह यदि तत्त्वज्ञानमें अग्रसर न हुआ हो तो तीन वर्ष बीत जानेपर भी उसे बहूदक नहीं होना चाहिये । हे मुनीश्वरो ! बहूदक धर्मके सर्वप्रधान और विशिष्ट लक्ष्य संक्षेपसे निम्न लिखित हैं । बहूदकको विश्वात्माके साथ अपना ऐक्य करनेका विशेषरूपसे यत्न करना चाहिये ॥ ४–५ ॥ जगत्को ब्रह्म स्वरूप जानकर पवित्र भावसे केवल निष्काम कर्मके व्रतमें उसे निरन्तर निरत रहना चाहिये ॥ ६ ॥

पूर्णतायास्तथा लाभः त्यागे तपसि यत्नतः ।
अनिकेतः स्थिरमतिस्तथा च दृढ़संयमी ॥ ७ ॥
न केषुचिदभिष्वङ्गो कश्चनाऽपि हि कुत्रचित् ।
तीर्थयात्राटनं चैव समासेन निबोधत ८ ॥
कामिनीकाञ्चनाभ्यां हि वैराग्यं मनसा यदि ।
पूर्णं नैवोपलब्धं चेन्न बहूदकतां श्रयेत् ॥ ९ ॥
संस्कारो ममतायाश्चेत्स्वजातिकुलबन्धुषु ।
न पूर्णं मनसा नष्टो न बहूदकतां श्रयेत् ॥ १० ॥
आत्मन्येव स्थितौ पूर्णा यदीच्छा नोपजायते ।
कदाऽपि विप्रो धर्मज्ञो न बहूदकतां व्रजेत् ॥ ११ ॥
कुटीचकस्य यत्त्वाहुर्मनसा पूजनं सदा ।
देवर्षिनित्यपितॄणां यच्चाहुर्वै ह्यमन्त्रकम् ॥ १२ ॥
जगत्कल्याणबुद्ध्यैव महायज्ञविधानकम् ।
सर्व्वमेतच्च संप्रोक्तं ब्रह्माण्डस्यात्मना सह ॥ १३ ॥
ज्ञेयं तन्मुनिभिर्नित्यमैक्यसम्बन्धवर्द्धकम् ।
तयोर्बहूदकस्याऽस्ति न निषेधो न वा विधिः ॥ १४ ॥

यत्नपूर्वक त्याग और तपमें पूर्णता लाभ करना चाहिये। गृहहीन, स्थितप्रज्ञ और दृढ़संयमी हो ॥ ७ ॥ कहीं भी किसीमें भी कोई भी आसक्ति न रह जाय। और तीर्थयात्राटन किया करे ॥ ८ ॥ कामिनी काञ्चनसे यदि मनमें पूर्ण वैराग्य उत्पन्न न हुआ हो तो बहूदक धर्मका आश्रय नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥ अपनी जाति कुल और बन्धुवर्गके सम्बन्धकी ममताका संस्कार यदि हृदयसे नष्ट न हुआ हो तो बहूदक नहीं होना चाहिये ॥ १० ॥ आत्मामें ही अवस्थिति करनेकी यदि पूर्ण इच्छा न हो तो धर्मज्ञ ब्राह्मण कदापि बहूदक धर्ममें प्रवेश न करे ॥११॥ कुटीचकके लिये मानसिक पूजन और देव, ऋषि और नित्य पितृगणका जो अमन्त्रक पूजन कहा गया है, वह जगत्कल्याणकी बुद्धिसे महायज्ञ विधायक है। यह सब ब्रह्माण्डके साथ आत्माका ऐक्य सम्बन्ध बढ़ानेके लिये मुनियोंने कहा है ऐसा जान लेना चाहिये। इन दोनोंमेंसे बहूदकके

सङ्कल्पमोहरहितो यस्मात्स परिकथ्यते ।
किन्त्वाश्रमागतानां वै धार्म्मिकाणान्तु सत्कृतिः ॥ १५ ॥
शिष्टाचारेण कर्तव्या सर्व्वैः संन्यासिभिः सदा ।
मर्य्यादां पालयन्न्यासी वर्णाश्रमविधेर्ध्रुवम् ॥ १६ ॥
जगत्कल्याणबुद्धया वै शिष्टाचारपरो भवेत् ।
वाङ्मात्रेण नमस्कर्ता निम्नवर्णजुषां सताम् ॥ १७ ॥
साधूनामाश्रमाप्तानां इति शास्त्रविनिर्णयः ।
सैश्वर्य्यायाः स्थूलमूर्तेर्ब्रह्मणः परमेशितुः ॥ १८ ॥
ध्यानेन यदि तृप्तः स्यात्संन्यासी तु बहूदकः ।
ज्योतिर्ध्यानेऽथवा बिन्दुध्याने कुर्याद्रतिं सदा ॥ १९ ॥
निर्गुणाया धारणाया ध्यानमेतत्सहायकम् ।
कृत्वा हृत्पद्मनिलये विश्वाख्यं विश्वसम्भवम् ॥ २० ॥
आत्मानं सर्वभूतानां परस्तात्तमसः स्थितम् ।
सर्वस्याधारमव्यक्तमानन्दं ज्योतिरव्ययम् ॥ २१ ॥

लिये किसीका विधिनिषेध नहीं है ॥ १२-१४ ॥ क्योंकि वह सङ्कल्प और मोह रहित है । किन्तु अपने आश्रम अर्थात् आसनपर आये हुए धार्मिकोंका सत्कार शिष्टाचारके साथ सभी संन्यासियोंको करना चाहिये । वर्णाश्रम धर्म्मकी मर्य्यादा पालन करनेके लिये संन्यासीको जगत्कल्याणकी बुद्धिसे शिष्टाचार परायण होना चाहिये। आश्रमपर आये हुए निम्न वर्णके सज्जन साधुगणको केवल मौखिक नमस्कार करना चाहिये ऐसा शास्त्रका निर्णय है । ऐश्वर्य युक्त परब्रह्मकी स्थूल मूर्तिके ध्यानसे यदि बहूदक संन्यासी तृप्त हो गया हो तो उसे ज्योतिर्ध्यान अथवा बिन्दुध्यानका अभ्यास करना चाहिये ॥ १५-१९ ॥ ये ध्यान ही निर्गुण धारणाके परम सहायक हैं । हृदयकमलमें विश्वसंज्ञक, विश्वसंभव, सर्व भूतों-के आत्मास्वरूप, अन्धकारसे परे स्थित, सबके आधारस्वरूप, अव्यक्त, आनन्दमय, ज्योतिर्मय, अव्यय, प्रधानपुरुषातीत, आकाश-

प्रधानपुरुषातीतमाकाशं दहनं परम् ।
तदन्तः सर्वभावानामीश्वरं ब्रह्मरूपिणम् ॥ २२ ॥
ध्यायेदनादिमद्वैतमानन्दादिगुणालयम् ।
महान्तं परमं ब्रह्म पुरुषं सत्यमव्ययम् ॥ २३ ॥
सितेतरारुणाकारं महेशं विश्वरूपिणम् ।
ओंकारान्तेऽथवात्मानं संस्थाप्य परमात्मनि ॥ २४ ॥
आकाशे देवमीशानं ध्यायीताकाशमव्ययम् ।
कारणं सर्वभूतानां आनन्दैकसमाश्रयम् ॥ २५ ॥
पुराणं पुरुषं शम्भुं ध्यायन्मुच्येत बन्धनात् ।
यद्वा गुहायां प्रकृतौ जगत्सम्मोहनालये ॥ २६ ॥
विचिन्त्य परमं व्योम सर्वभूतैककारणम् ।
जीवनं सर्वभूतानां यत्र लोकः प्रलीयते ॥ २७ ॥
आनन्दं ब्रह्मणः सूक्ष्मं यत्पश्यन्ति मुमुक्षवः ।
तन्मध्ये निहितं ब्रह्म केवलं ज्ञानलक्षणम् ॥ २८ ॥

रूप और श्रेष्ठ अग्निके रूपमें ब्रह्म स्वरूप, अनादि, अद्वैत, आनन्दादि गुणोंके आलय, महान् परम-ब्रह्म-पुरुष, सत्य, अव्यय और सब भावोंके ईश्वरका ध्यान करना चाहिये † ॥ २०—२३ ॥ श्याम और अरुण स्वरूप विश्वरूप महेशको ॐकारमें अथवा आत्माको परमात्मामें स्थापन कर आकाशमें आकाशरूप, अव्यय, ईश्वर, देवका ध्यान करना चाहिये। जो सब भूतोंका कारण और आनन्दका एकमात्र आश्रयस्थान है उस पुराणपुरुष शम्भुका ध्यान करनेसे बन्धन छूट जाते हैं। * अथवा गुहा, प्रकृति और जगत्सम्मोहनालयके सम्बन्धसे परमव्योम, सर्वभूतोंका कारण, सर्व भूतोंका जीवन-जहां सभी लोग विलीन होते हैं-आनन्दमय ब्रह्मका सूक्ष्मरूप-जिसे मुमुक्षुगण देखते हैं-उसकी चिन्तना कर

---

† यह हठयोगके अनुसार ज्योतिर्ध्यानका प्रकरण है।
* यह लय योगके अनुसार बिन्दुध्यानका प्रकरण है।

अनन्तं सत्यमीशानं विचिन्त्यासीत संयतः ।
गुह्याद्गुह्यतमं ज्ञानं यतीनामेतदीश्वरम् ॥ २९ ॥
योऽनुतिष्ठेत सततं सोऽश्नुते योगमीश्वरम् ।
तस्मात् ध्यानरतो नित्यमात्मविद्यापरायणः ॥ ३० ॥
ज्ञानं समभ्यसेद्‌ब्राह्मं मुच्यते भवबन्धनात् ।
यद्वा पृथक्त्वमात्मानं सर्वस्मादेव केवलम् ॥ ३१ ॥
आनन्दमक्षरं ज्ञानं ध्यायीत च पुनः परम् ।
यस्माद्भवन्ति भूतानि यद्गत्वा नेह जायते ॥ ३२ ॥
स तस्मादीश्वरो देवः परस्ताद्योऽधितिष्ठति ।
यदन्तरे तद्गमनं शाश्वतं शिवमव्ययम् ॥ ३३ ॥
यमाहुस्तत्परो नाऽस्ति स देवः स्यान्महेश्वरः ।
शृणुध्वं ऋषयः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ३४ ॥
कालो दुरत्ययः प्रोक्तस्तस्मादुपगते कलौ ।
तत्प्रभावात्प्रजाः सर्वा वर्णसङ्करतां तथा ॥ ३५ ॥

उसमें निहित केवल ज्ञानलक्षण, अनन्त, सत्य, ईश्वरीय ब्रह्मका विचार करते हुए संयत होकर रहना चाहिये। यतियोंके लिये श्रेष्ठ, गुह्यसे भी गुह्य इस ज्ञानका जो अनुष्ठान करता है, वह ईश्वरीय योगको प्राप्त करता है। इसलिये नित्य ध्यानरत और आत्मविद्यापरायण होकर ब्रह्मज्ञानका अभ्यास करनेसे सब बन्धन छूट जाते हैं। अथवा सबसे पृथक्, केवल, आनन्द, अक्षर, अद्वितीय, ज्ञान स्वरूप आत्माका ध्यान करना चाहिये। जिससे प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं और जहाँ पहुँच कर वे पुनः उत्पन्न नहीं होते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं, वही देव ईश्वर है। उनसे भी परे जो स्थित है, जिसमें उसका गमन शाश्वत, कल्याणमय, अव्यय होता है और जिससे परे कुछ नहीं है, वही देव महेश्वर कहे गये हैं * वेद वेदाङ्गोंमें पारङ्गत समस्त ऋषियो ! सुनिये ॥ २४–३४ ॥ काल बड़ा प्रबल कहा गया है। जब कलिकाल आजायगा, तब उसके प्रभावसे पृथ्वी पर

---

* ये दो ध्यान राजयोगके अनुसार ईश्वर और ब्रह्म इन दोनों भावोंसे सम्बन्ध युक्त दो पृथक् ध्यान है। ईश्वर ध्यान तटस्थवेद्य और ब्रह्मध्यान स्वरूपवेद्य होनेसे राजयोगके अनुसार ये अलग ध्यान माने गये हैं।

कर्म्मसङ्करतां चाऽपि प्रायो यास्यन्ति भूतले।
ब्राह्मणव्यतिरिक्ता ये ततो वर्णाः कलौ तदा॥ ३६॥
प्रव्रज्यां धारयिष्यन्ति निवृत्तेरिच्छुकास्तथा।
परिहारो नास्ति यस्य कालिकी गतिरीदृशी॥ ३७॥
यदि कालप्रभावेण ब्राह्मणेतरवर्णकाः।
निवृत्तिमभिकाङ्क्षेरन् तदा पालनतत्पराः। ३८॥
कुटीचकस्य धर्मस्य भवेयुस्ते निरन्तरम्।
तदा बहूदकस्याऽपि धर्मस्येति विनिर्णयः॥ ३९॥
धर्मो हंसस्य परमहंसस्याऽपि न युज्यते।
अन्यथा पतनं तेषां भावीति शास्त्रसम्मतम्॥ ४०॥
तथाऽवदध्युस्ते नित्यं लोकरक्षाकरी यथा।
वर्णधर्मस्य मर्यादा न लुप्येत कथञ्चन॥ ४१॥
मनसा तेऽधिकारं हि महान्तमपि कञ्चन।
कीदृशं चाऽपि लभ्येरन् शरीरेण तु नित्यशः॥ ४२॥

समस्त प्रजा प्रायः वर्णसङ्कर और कर्मसङ्कर हो जायगी। ब्राह्मणके अतिरिक्त सभी वर्ण निवृत्तिमार्गके इच्छुक होकर सन्न्यास ग्रहण करने लगेंगे। इस बातका परिहार नहीं हो सकता क्योंकि कालकी गति ही ऐसी है॥ ३५–३७॥ कलिकालके प्रभाव से ब्राह्मणेतर वर्ण जब निवृत्तिकी इच्छा करेंगे और निवृत्ति धर्मका पालन करनेमें तत्पर हो जायंगे, तब उन्हें केवल कुटीचक और बहूदक धर्मका ही पालन करना चाहिये। हंस और परमहंसके धर्मका पालन उनके लिये योग्य नहीं है। वे यदि ऐसा करें अर्थात् हंस या परमहंस बनें तो शास्त्रोंके मतसे उनका निश्चय पतन होगा॥ ३८–४०॥ उन्हें लोकरक्षाकारी वर्णधर्मकी मर्यादाका सदा ध्यान रखना चाहिये। उसका लोप नहीं होने देना चाहिये॥ ४१॥ वे अपना मानसिक कैसा ही महान् अधिकार क्यों न प्राप्त करलें,

वर्णधर्म्मानुसारेण वर्त्तेरन् विनयान्विताः।
स्वोच्चवर्णस्य मर्य्यादाविचारं च पुनः पुनः॥ ४३॥
हृदि संस्थापयेयुस्ते स्वायामुन्नतिमिच्छवः।
निम्नवर्णभवास्ते वै स्वोच्चवर्णेन पूजनम्॥ ४४॥
न कारयेयुः कथमप्युच्चवर्णाय ते तथा।
न चापि दीक्षां दद्युर्वै श्रुतिस्मृतिवचस्त्विदम्॥ ४५॥
वर्णौ पृष्टाः केनचित्ते गोपयेयुः कथञ्चन।
न हि स्ववर्णं यस्माद्धै मूलमाहुर्महर्षयः॥ ४६॥
वर्णाश्रमस्य धर्मं हि आर्यत्वस्य दृढं ध्रुवम्।
एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्॥ ४७॥
सिद्धिमेकस्य संपश्यन् न जहाति न हीयते।
अतिवादाँस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन॥ ४८॥
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्।
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्॥ ४९॥

शरीरसे तो उन्हें विनयके साथ वर्ण धर्मानुसार ही चलना चहिये। वे यदि अपनी उन्नति चाहते हों, तो अपनेसे ऊंचे वर्णकी मर्यादाका विचार उन्हें हृदयमें रखना चाहिये। निम्न वर्णमें उत्पन्न होकर अपनेसे ऊँचे वर्णके लोगोंसे वे कभी अपना पूजन न करावें और न अपनेसे ऊंचे वर्णको दीक्षा ही दें, ऐसा श्रुति और स्मृतिका वचन है॥ ४२-४५॥ यदि कोई वर्ण पूछे तो उसे अपनी जाति छिपानी नहीं चाहिये; क्योंकि आर्यत्वका दृढ़ और निश्चित मूल वर्णाश्रम धर्म है। किसीकी सहायता न लेकर अकेला ही सिद्धिके लिये सदा प्रयत्न करे, इस प्रकारसे अकेले ही सिद्धि प्राप्त करनेसे उनकी सिद्धि न घटती है और न वह उसे छोड़ती है। अतिवाद नहीं करना चाहिये। किसीका अपमान नहीं करना चाहिये॥ ४६-४८॥ इस देहका आश्रयकर किसीसे वैर नहीं करना चाहिये। कोई क्रोध करे तो उसपर स्वयं क्रोध नहीं करना चाहिये। कोई आक्रोश

सप्तद्वारावकीर्णाञ्च न वाचमनृतां वदेत्।
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः॥५०॥

आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह।
न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया॥ ५१ ॥

नाऽनुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्।
न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः॥ ५२ ॥

आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरगारमुपसंव्रजेत्।
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्॥ ५३ ॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः।
अभिपूजितलाभाँस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः॥ ५४ ॥

अभिपूजितलाभश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते।
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेन च। ५५ ॥

करे तो शान्तिके साथ कुशलकी बात करनी चाहिये॥ ४९॥ जो वाणी सात द्वारोंसे निर्गत होती है, ऐसी वाणीका असत्यरूपसे प्रयोग नहीं करना चाहिये। सुखार्थी पुरुष अध्यात्म विषयोंमें प्रेम करता हुआ निरपेक्ष, निरामिष होकर आत्माकी ही सहायतासे विचरण करे। धूमकेतु उदय जैसे उत्पातोंके निमित्तसे, ज्योतिष विद्यासे॥ ५०–५१॥ और अनुशासन वादसे कभी कहींसे भिक्षाकी इच्छा न करे। *तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते, भिखारी या अन्य लोगोंसे आकीर्ण गृहमें भिक्षार्थ गमन न करना चाहिये। कोई भिक्षा न दे तो विषाद न करे और अच्छी भिक्षा मिलने पर भी हर्ष न माने॥ ५२–५३॥ इन्द्रियके विषयोंके सङ्गसे मुक्त होकर केवल जीवनयात्राका चरितार्थ करना चाहिये। प्रतिष्ठाके साथ जो लाभ हो उसे निन्दित समझे क्योंकि प्रतिष्ठासे प्राप्त अर्थात् पुजाये हुए लाभसे मुक्त यति भी बद्ध हो जाता है। इन्द्रियोंके निरोधसे

---

* इस वचनका तात्पर्य यह है कि, सन्न्यासीको कदापि अपनी कोई विद्या, योग्यता या सिद्धि दिखाकर भिक्षा ग्रहण करनी नहीं चाहिये। यह सन्न्यासीके लिये अधर्म्म है।

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ॥५६॥
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ।
विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगञ्च तथाऽप्रियैः ॥ ५७ ॥
जरया चाऽभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
देहादुत्क्रमणञ्चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम् ॥ ५८ ॥
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चाऽस्यान्तरात्मनः ।
अधर्म्मप्रभवञ्चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ॥ ५९ ॥
धर्म्मार्थप्रभवञ्चैव सुखसंयोगमक्षयम् ।
सूक्ष्मताञ्चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ॥ ६० ॥
देहेषु च समुत्पत्तिं उत्तमेष्वधमेषु च ।
दूषितोऽपि चरेद्धर्म्मं यत्र तत्राऽश्रमे रतः ॥ ६१ ॥
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्म्मकारणम् ।
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रकाशकम् ॥ ६२ ॥
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ।
संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ॥ ६३ ॥

रागद्वेषके क्षयसे, प्राणिमात्रकी अहिंसासे यति अमृतत्वको प्राप्त करता है। मनुष्योंकी कर्मदोषोंसे बनी हुई गति देखनी चाहिये। नरकमें पतन, यमयातना, प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, जरा, का आक्रमण, व्याधिकी पीडा, देहसे उत्क्रमण, पुनःगर्भमें प्रवेश,॥५४-५८॥ करोड़ों योनियोंमें अन्तरात्माका आवागमन ये सब प्राणियोंके अधर्मसे उत्पन्न हुए दुःख योग हैं॥ ५९॥ धर्मार्थप्रभव अक्षय सुख-संयोग ही हुआ करता है। इन बातोंकी परमात्माके संयोगसे सूक्ष्मता देखनी चाहिये ॥ ६० ॥ उत्तम या अधम कैसे ही शरीरमें उत्पत्ति क्यों न हो, दूषित होनेपर भी जिस आश्रमका जो धर्म है, वह पालन करना चाहिये॥६१॥सब प्राणियोंमें समभाव रखना चाहिये। क्योंकि धर्मका कारण वेश नहीं है। कतक वृक्ष अर्थात् निर्मली वृक्षके फलका केवल नाम लेनेसे ही पानी स्वच्छ नहीं होता। रातमें या दिनमें

शरीरस्याऽत्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत्।
अह्ना रात्र्या च यान् जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ॥६४॥
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत्।
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् ॥ ६५ ॥
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनाऽनीश्वरान् गुणान्।
अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ॥ ६६ ॥
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः।
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ॥ ६७ ॥
रजस्वलमनित्यञ्च भूतावासमिमं त्यजेत्।
प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ॥ ६८ ॥
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माऽभ्येति सनातनम्।
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः ॥ ६९ ॥
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैः शनैः ॥ ७० ॥

प्राणान्त हो तो प्राणिमात्रकी रक्षाके लिये देखकर पृथ्वी पर चलना चाहिये, दिन या रात्रिमें जो यति विना जाने यदि जन्तुहिंसा करे तो इसकी शुद्धिके लिये उसे स्नान कर छः प्राणायाम करने चाहिये प्राणायाम दोषोंको जला देता है, धारणा किल्विषका नाश करती है ॥६२–६५॥ प्रत्याहारसे संसर्ग दोष दूर होते हैं और ध्यानसे अनीश्वर गुणोंका नाश होता है। कठिन अस्थि स्नायुओंके युक्त, रक्तसे लिप्त ॥ ६६ ॥ चर्मसे बद्ध, मलमूत्रकी दुर्गन्धिसे पूर्ण, जरा और शोकसे आक्रान्त, रोगका निकेतन स्वरूप, दोषयुक्त और पञ्चभूतोंके वासस्वरूप इस नश्वर शरीरकी आसक्तिको छोड़ना चाहिये। वह यति अपना सुकृत प्रियजनोंको और दुष्कृत अप्रियोंको देकर ध्यान योगसे सनातन ब्रह्मको प्राप्त करता है। जब भावकी सहायतासे सब भावोंसे निःस्पृह हो जाता है ॥६७–६९॥ तभी इहलोक और परलोकमें वह शाश्वत सुख प्राप्त करता है। इस प्रकार सब संगोंको धीरे धीरे छोड़कर सब द्वन्द्वोंसे मुक्त होता हुआ वह ब्रह्ममें ही अवस्थिति करता है। यह सब ध्यान सम्बन्धी विषय हैं, जो मैंने कहा॥७०–७१॥ अध्या-

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ।
ध्यानिकं सर्व्वमेवैतत्तदेतदभिशब्दितम् ॥ ७१ ॥
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ।
अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ॥ ७२ ॥
आध्यात्मिकञ्च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ।
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ॥ ७३ ॥
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ।
अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ॥ ७४ ॥
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ।
एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पंचरात्रकम् ॥ ७५ ॥
वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यो मुनिः ॥ ७६ ॥
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ७७ ॥

इति श्रीसन्यासगीतायां वहूदकधर्म्मनिरूपणं नाम अष्टमोऽध्यायः ।

त्मज्ञान विना कोई क्रियाफल नहीं पाता। अधियज्ञ ब्रह्मका जप करना चाहिये, आधिदैविक ब्रह्मका जप करना चाहिये और वेदान्तमें कथित आध्यात्मिक ब्रह्मका जप करना चाहिये *। येही तीनों अज्ञानी, ज्ञानी, स्वर्ग चाहने वाले, अनन्त पदकी इच्छा करनेवाले, सभीके लिये शरण्य हैं। इस क्रमसे जो द्विज सन्न्यासी होता है वह सब पापोंसे मुक्त होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है। ग्राममें यतिको एकरात्र और नगरमें पञ्चरात्र रहना चाहिये। वर्षाकालमें कहीं चार मास रहना चाहिये। प्राणिमात्रको अभय प्रदान करता हुआ जो मुनि पर्यटन करता है, उसको किसी प्राणीसे कभी भय उत्पन्न नहीं होता॥७२-७७॥

इस प्रकार श्रीसन्नासगीताका वहूदकधर्म्मनिरूपण नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।

---

* देहमें स्थित कूटस्थ चैतन्य अधियज्ञ, सगुण ईश्वर अधिदैव और निर्गुण ब्रह्म आध्यात्मिक कहाते हैं। तीनों एक हैं, एक ही तीन हैं। इस विचारसे जप, और ध्यान सन्न्यासीके लिये हितकर है।

शुक उवाच ।

जगद्गुरो ! श्रुतोऽस्माभिर्भवतः कृपयाऽनघ ।
बहूदकदशायास्तु श्रोतव्यो धर्म उत्तमः ॥ १ ॥
अधुना वै तृतीयाया विशेषं लक्षणं वद ।
अवस्थायास्तु हंसस्य न्यासिनोऽस्मान्कृतार्थयन् ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

यदा तु जायते विप्राः ! तत्त्वज्ञानस्य योग्यता ।
बहूदको भवेद्धीरस्तदाऽऽत्मानं समुन्नयन् ॥ ३ ॥
यदा च योग्यताप्राप्तिर्मनोनाशस्य जायते ।
तदैव हंसावस्थायां विचरेद्योगिराण्मुदा ॥ ४ ॥
यद्येवं योग्यता न स्यात्तदा पूर्वोक्तयोर्वसेत् ।
हंसाऽधिकारे तत्त्वज्ञः निष्कामव्रततत्परः ॥ ५ ॥
ब्रह्म मत्वा जगद्रूपं कर्म्मयोगी मनो जयन् ।
जगत्यां सत्यधर्म्मस्य तत्त्वज्ञानस्य चैव हि ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोलेः—हे निष्पाप ! हे जगद्गुरो ! आपकी कृपासे हमलोगोंने बहूदकदशाका जो उत्तम धर्म सुनना था सो सुन लिया। अब तृतीय अवस्थाके हंस सन्न्यासीका विशेष लक्षण कहकर आप हम लोगोंको कृतार्थ करें ॥ १–२ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहाः—हे विप्रो ! जब तत्त्वज्ञानकी योग्यता हो जाय, तब धीर पुरुषको आत्मोन्नति करते हुए बहूदक होना चाहिये और जब मनोनाश करनेकी योग्यता हो जाय, तब उस योगिराजको आनन्दके साथ हंसदशामें विचरण करना चाहिये ॥३–४॥ यदि ऐसी योग्यता न हो, तो वह पूर्वोक्त कुटीचक-बहूदककी दशामें ही रहे। हंसके अधिकारमें तत्त्वज्ञानी पुरुष निष्काम व्रतमें परायण होकर ब्रह्मको जगत्‌रूपमें माने और वह कर्मयोगी मनका जय करते हुए व्रती होकर संसारमें सत्यधर्म एवं तत्त्वज्ञानके विस्तारका निरन्तर यत्न करता रहे। हे महर्षिगण ! इस दशामें सन्न्यासी जगद्गुरुके प्रतिनिधिका महान् उन्नत पद प्राप्त करता है।

विस्तारे यत्नमादध्याद् व्रती भूत्वा निरन्तरम्।
अस्यां दशायां संन्यासी उन्नतं लभते पदम् ॥ ७ ॥
जगद्गुरोः प्रतिनिधेर्महनीयं महर्षयः।
दृष्टाऽनुश्रविकाभ्यां चेद्विषयाभ्यां यदा नृणाम् ॥ ८ ॥
परवैराग्यसम्प्राप्तिस्तदा हंसव्रतं चरेत्।
पराभक्ते रहस्यं हि ज्ञात्वा साधकसत्तमः ॥ ९ ॥
तत्वज्ञानं चाऽनुभूय तदा हँसव्रतं चरेत्।
उत्तरोत्तरमेतेषामाश्रमाणां विधारणे ॥ १० ॥
ज्ञानाऽधिकारप्राधान्यं न कालस्य प्रधानता।
संन्यास्येतज्जगन्मान्यं धृत्वा हंसं महाव्रतम् ॥ ११ ॥
लभते ह्युत्तमां विप्राः ! पदवीं वै जगद्गुरोः।
स निष्कामकर्मयोगव्रतं धृत्वा महीं चरन् ॥ १२ ॥
लोककल्याणकर्तारमुपदेशं ददत्तथा।
दीक्षादानं महत्कुर्वन्नभयञ्च प्रचारयेत् ॥ १३ ॥
साधनानां परं तस्य राजयोगोऽस्ति साधनम्।
तस्य व्रतमिदं ज्ञेयं निष्कामव्रतमेव हि ॥ १४ ॥

दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंसे मनुष्यको जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाता है, तब उसे हंसव्रत ग्रहण करना चाहिये। परा भक्तिके रहस्यको जानकर और तत्त्वज्ञानका अनुभव करके साधकोत्तम हंसव्रतका ग्रहण करे। उत्तरोत्तर इन आश्रमोंको ग्रहण करनेमें ज्ञानके अधिकारकी प्रधानता है, कालकी नहीं। सन्न्यासी इस जगन्मान्य हंसके महाव्रतको धारण कर ॥ ५-११ ॥ हे विप्रो ! जगद्गुरुकी उत्तम पदवीको प्राप्त करता है। वह निष्काम कर्म योगके व्रतको धारण कर पृथ्वीपर विचरण करता हुआ लोककल्याण करनेवाले उपदेशको देकर दीक्षादान स्वरूप महान् अभयदानका प्रचार करे ॥ १२-१३ ॥ उसके लिये साधनोंमें श्रेष्ठ साधन राजयोग है। उसका व्रत निष्काम व्रत ही जानना चाहिये ॥ १४ ॥ लोक

धारणाऽपि च सा तस्य जगत्कल्याणधारणा।
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं धर्मेषु सकलेष्वपि ॥ १५ ॥
ऐक्यबुद्धिस्तु बुद्धिः स्यात्सम्प्रदायेष्वपि भृशम्।
मित्रे शत्रौ सुखे दुःखे स्त्रियां पुंसि तथैव च ॥ १६ ॥
स्वर्णे लोष्टे चैषु साम्यं द्वन्द्वेष्वन्येष्वपि ध्रुवम्।
समाधिः कथिता तस्य महामहिमशालिनः ॥ १७ ॥
जगत्कल्याणबुद्ध्यैव केवलं देहधारणम्।
तपः समीरितं तस्य सर्वप्राणिहितैषिणः ॥ १८ ॥
ज्ञानोपदेशाज्जीवेभ्यस्त्वभयं दानमुत्तमम्।
दानं स्वभावजं विद्धि तत्तस्य विदितात्मनः ॥ १९ ॥
तदैव सम्भवस्त्वस्या उन्नताया विशेषतः।
दशाया हंससंज्ञाया यदा द्रष्टृत्वमाप्नुयात् ॥ २० ॥
संन्यासी कर्मणां सप्तभूमिकायास्तथैव च।
उपासनायाः सप्तानां भूमिकानां मुनीश्वराः ॥ २१ ॥
भूमिकानाञ्च सप्तानां ज्ञानस्य परमर्षयः।
रहस्यं स्यात्तस्य सप्त दर्शनानाञ्च हृद्गतम् ॥ २२ ॥

कल्याणकी धारणा ही उसकी धारणा है। ब्रह्मका ध्यान करना ही उसका ध्यान है ॥ १५ ॥ सब धर्म और सम्प्रदायोंमें ऐक्य बुद्धि ही उसकी बुद्धि है। शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष, सुवर्ण-लोष्ठ और ऐसे ही अन्य द्वन्द्वोंमें भी समभाव रखना ही उस महान् प्रतापी पुरुषकी समाधि कही गई है ॥ १६-१७ ॥ केवल जगत्कल्याण-की बुद्धिसे देह धारण करना ही उसका सर्व-प्राणि-हितकारी तप है ॥ १८ ॥ ज्ञानके उपदेशसे जीवमात्रको उत्तम अभय दान देना ही उस परम ज्ञानी पुरुषका स्वभावसिद्ध दान है ॥ १६ ॥ हे मुनी-श्वरो ! इस विशेष उन्नत हंससंज्ञक दशाका तभी सम्भव हो सकता है, जब सन्न्यासी सप्त कर्मभूमि और सप्त उपासनाभूमिको पूर्णरूपसे जान लेगा ॥ २०-२१ ॥ हे महर्षियो ! सप्त ज्ञानभूमि और सप्त दर्शनोंका रहस्य जब

चतुर्णां योगमार्गाणां सः स्याच्च पथदर्शकः ।
संन्यास्येतदवस्थाढ्यो मनसि प्रलयं गते ॥ २३ ॥

उन्नतायां दशायां हि ब्रह्मसद्भावमृच्छति ।
चतुर्धा गुरवो ज्ञेयास्तत्र शिक्षागुरुः खलु ॥ २४ ॥

व्यावहारिकशिक्षायाः प्रवर्तक उदाहृतः ।
विद्यागुरुर्यो वेदादिशास्त्रमध्यापयेत्सुधीः ॥ २५ ॥

दीक्षागुरुर्यः शिष्यान्स्वान्योजयेदवधानतः ।
कर्मोपासनयोर्मध्येऽन्यतरस्मिन्विधानतः ॥ २६ ॥

जगद्गुरुः स विज्ञेयः शिष्यानुपदिशन् हि यः ।
ब्रह्मविद्यां नयेत्कालं लोकसंग्रहणेच्छया ॥ २७ ॥

पूजनीयोऽधिकं स्वेषु परः पर इति स्मृतिः ।
अन्तिमस्तु विशेषेण साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपभाक् ॥ २८ ॥

असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्षणात् ॥ २९ ॥

उसे हृद्गत हो जायगा, चारों योग मार्गोंका वह पथ-प्रदर्शक बनेगा और उसका मन जब विलीन हो जायगा, तब इस उन्नत दशामें आरूढ़ हुआ सन्न्यासी ब्रह्म सद्भावको प्राप्त करता है। चार प्रकारके गुरु होते हैं। उनमें प्रथम शिक्षागुरु, जो व्यवहारसम्बन्धी शिक्षाका प्रवर्तक कहा गया है। द्वितीय बुद्धिमान् विद्यागुरु, जो वेदादि शास्त्रोंको पढ़ावे ॥ २२-२५ ॥ तृतीय दीक्षा गुरु, जो अपने शिष्योंको यत्नके साथ कर्म अथवा उपासनामेंसे किसी एककी यथाविधि दीक्षा दे ॥२६॥ और चतुर्थ जगद्गुरु उसे जानना चाहिये, जो शिष्योंको ब्रह्मविद्याका उपदेश देते हुए लोकसङ्ग्रहकी इच्छासे अपना समय व्यतीत करता है ॥ २७ ॥ इनमें एकसे एक अधिक पूजनीय हैं और अन्तिम जगद्गुरु तो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होता है ॥२८॥ सङ्कल्प न कर कामको जय करना चाहिये। कामके त्यागसे क्रोधको, अर्थ और अनर्थके विचारसे लोभको, तत्त्वचिन्तनसे भयको, अध्यात्म विद्यासे शोक मोहको, गुरुजनकी उपासनासे दम्भको

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया ॥ ३० ॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥ ३१ ॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥ ३२ ॥
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च मार्गद्वयमुदीरितम्।
गार्हस्थ्ये हि प्रवृत्तेर्वै त्ववसानं निगद्यते ॥ ३३ ॥
निवृत्तेः पूर्णता युक्ता हंस एवाश्रमे ध्रुवम्।
यतः परमहंसस्य निस्त्रैगुण्या दशा मता ॥ ३४ ॥
यथा गृहस्थ ऐश्वर्यभोगस्याकरणेन तु।
यथा तच्चिह्नरहितो लज्जते जनसंसदि ॥ ३५ ॥
तयोस्तु स्वीकृतौ युक्ता लज्जा संन्यासिनस्तथा।
परवैराग्यलक्ष्मैतद्ध्रीरियं च यथार्थतः ॥ ३६ ॥

मौनसे योग विघ्नको और वासना न करनेसे हिंसाको जय करना चाहिये। कृपासे आधिभौतिक दुःखको, सविकल्प समाधिसे आधिदैविक दुःखको और योगवीर्यसे अध्यात्मिक दुःखको जला देना चाहिये। निद्राको सात्त्विक आचरणसे, रज और तमको सत्त्वगुणसे, सत्त्वको उपशमसे और इन सभोंको सद्गुरुमें भक्ति करनेसे पुरुष शीघ्र जीत लेता है॥२९-३२॥ प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो मार्ग कहे गये हैं। गृहस्थाश्रममें प्रवृत्तिकी समाप्ति हो जाती है और निवृत्तिकी पूर्णता हंसदशामें होती है; क्योंकि परमहंस दशा तो त्रिगुणातीत दशा है ॥३३-३४॥ कोई गृहस्थ ऐश्वर्यभोग न करे और ऐश्वर्यभोग-के चिन्होंसे रहित हो, तो वह जनसमाजमें जिस प्रकार लज्जित होता है ॥ ३५ ॥ उसी प्रकार ऐश्वर्य भोगका स्वीकार करनेसे और ऐश्वर्यके चिन्ह धारण करनेसे सन्न्यासियोंको लज्जित होना चाहिये। यही पर-वैराग्यका लक्षण है और शास्त्रोंमें इसीको 'ह्री' कहते हैं ॥ ३६ ॥

हठमन्त्रलयानां वै योगानां च यदा भवेत्।
आचार्यस्तत्त्ववियोगी तदा हंसव्रतं चरेत् ॥ ३७ ॥
राजयोगे यदा पूर्णोऽधिकारी योगिराड् भवेत्।
स महापुरुषो विप्राः! तदा हंसव्रतं चरेत् ॥ ३८ ॥
भूमिका कर्मयोगस्य शुभेच्छा प्रथमा स्मृता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ ३९ ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंक्तिनामिका।
परार्थभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ ४० ॥
पूर्णज्ञानं विनैतासां राजयोगी भवेन्न हि।
उपासनाया भक्तेश्च भूमिका गदतः शृणु ॥ ४१ ॥
प्रथमा भूमिका नामपरा रूपपराऽपरा।
स्याद्विभूतिपरा नाम्ना तृतीया भूमिका मता ॥ ४२ ॥
तथा शक्तिपरा नाम चतुर्थी भूमिका भवेत्।
एवं गुणपरा ज्ञेया भूमिका पञ्चमी बुधैः ॥ ४३ ॥
षष्ठी भावपरा ज्ञेया सा स्वरूपपराऽन्तिमा।
पूर्णज्ञानं विनैतासां राजयोगी भवेन्न हि ॥ ४४ ॥

तब तत्त्ववेत्ता योगी हठयोग, मन्त्रयोग और लययोगमें आचार्य हो जाय, तब उसे हंसव्रत ग्रहण करना चाहिये ॥ ३७ ॥ जब वह योगिराट् महापुरुष राजयोगमें पूर्ण अधिकारी हो जाय, तब हे विप्रो! उसे हंसव्रतका ग्रहण करना चाहिये ॥ ३८ ॥ कर्मयोगकी प्रथम भूमिकाका नाम शुभेच्छा है, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा चौथी सत्त्वापत्ति, पांचवी असंसक्ति, छठी परार्थभाविनी और सातवीं भूमिकाका नाम तुर्यगा कहा गया है ॥ ३९–४० ॥ इनका पूर्ण ज्ञान हुए विना कोई राजयोगी नहीं होता। उपासना और भक्तिकी भूमिकाओंको कहता हूं, सो भी सुनो ॥४१॥ उपासनाकी पहिली भूमिकाको नामपरा कहते हैं, दूसरी रूपपरा, तीसरी विभूतिपरा ॥ ४२ ॥ चौथी शक्तिपरा, पांचवीं गुणपरा, छठी भावपरा और सातवीं भूमिकाका नाम स्वरूपपरा है, ऐसा जानना चाहिये। इनका पूर्ण ज्ञान हुए विना कोई राजयोगी नहीं होता है ॥ ४३–४४ ॥ हे विप्रो!

ज्ञानस्य भूमिका विप्राः ! इमाः सर्वाः प्रकीर्तिताः ।
ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता ॥ ४५ ॥

सन्न्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत् ।
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्पदा स्मृता ॥ ४६ ॥

षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी तु परात्परा ।
पूर्णज्ञानं विनैतासां तद्वच्चानुभवं विना ॥ ४७ ॥

सम्बन्धज्ञानमन्योन्यमेतासामन्तरा तथा ।
कथञ्चिदपि सन्न्यासी राजयोगी भवेन्न हि ॥ ४८ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद्गतिमस्याऽन्तरात्मनः ॥ ४९ ॥

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ५० ॥

अहिंसयेन्द्रियाऽसङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ५१ ॥

ज्ञानकी भूमिकाओंके नाम इस प्रकार कहे गये हैं। ज्ञानभूमिकी पहिली भूमिका नाम ज्ञानदा है, दूसरी सन्न्यासदा, तीसरी योगदा, चौथी लीलोन्मुक्ति, पांचवी सत्पदा, छठी आनन्दपदा और सातवीं भूमिकाका नाम परात्परा है। इनका पूर्णज्ञान और अनुभव हुए विना एवं इनके परस्परके सम्बन्धका ज्ञान हुए विना कोई सन्न्यासी कभी राजयोगी नहीं हो सकता ॥ ४५–४८ ॥ उन्नत और अवनत प्राणियोंमें अकृतात्माओंके लिये दुर्ज्ञेय अन्तरात्माकी गति ध्यान योगसे ही जानने योग्य है ॥ ४९ ॥ उत्तम दार्शनिक ज्ञानसे सम्पन्न पुरुष कर्म्मोंसे बद्ध नहीं होता। दार्शनिक ज्ञानहीन पुरुष संसारमें ही पड़ा रहता है * ॥ ५० ॥ अहिंसा, इन्द्रियोंके विषयोंमें असंग, वैदिक कर्म्मोंका अनुष्ठान और उग्रतपके अनुष्ठानसे वह

---

* इसी कारण वैदिक दर्शनशास्त्रोंको दर्शन कहते हैं और दार्शनिक ज्ञान ही मुक्तिका साक्षात् कारण समझा गया है।

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा।
तथात्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ५२ ॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्म्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ५३ ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥ ५४ ॥
दशलक्ष्माणि धर्म्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ५५ ॥
येन सर्व्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान् ॥ ५६ ॥
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः सचेतनः ॥ ५७ ॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाऽशुचिर्भवेत्।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥ ५८ ॥

उन्नत पद प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥ नदीके तटको जैसे वृक्ष छोड़ देता है, अथवा वृक्षको जैसे शकुनी छोड़ देता है, वैसे ही इस शरीरको छोड़कर वह यति कठिन बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ५२ ॥ चारों आश्रमोंके द्विजोंको दशलक्षण युक्त धर्मका नित्यही यत्न पूर्वक सेवन करना चाहिये ॥ ५३ ॥ धृति, क्षमा, दम; अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दश धर्मके लक्षण हैं। ५४ ॥ धर्मके उक्त दशों लक्षणोंको जो द्विज समझता है और समझ कर तदनुसार आचरण करता है, वह परमगतिको प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥ धागेमें मणियोंकी भाँति जिसमें यह सब जगत् पिरोया हुआ है, इस प्रकारका सूत्ररूपी यज्ञोपवीत तत्त्वदर्शी योगवेत्ता योगीको धारण करना चाहिये ॥ ५६ ॥ उत्तम योगमें निरत विद्वान्को बाह्य सूत्र अर्थात् स्थूलयज्ञोपवीतका त्याग कर यह ब्रह्मभावका सूत्र धारण करना चाहिये; क्योंकि यह अध्यात्म यज्ञोपवीतरूप सूत्र चेतन है ॥ ५७ ॥ इस सूत्रके धारणसे वह सूत्र न उच्छिष्ट होता है न अपवित्र होता है। जिन ज्ञान-

ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥ ५९ ॥
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ।
गुणत्रयस्य या नित्या धारणा तत्त्रिदण्डकम् ॥ ६० ॥
यद्वाऽध्यात्माधिदैवाधिभौतिकत्रयधारणाम् ।
बुधास्त्रिदण्डं प्राहुर्वै तयोरन्तिममुत्तमम् ॥ ६१ ॥
प्रकृतेः पुरुषस्याऽपि द्रष्टुर्दृश्यस्य चैव हि ।
धारणां प्राहुरात्मज्ञा द्विदण्डमिति शब्दतः ॥ ६२ ॥
स्वरूपज्ञानमात्रेऽत्र स्थितिर्यस्य द्विजन्मनः ।
एकदण्डी स विज्ञेय. सर्वस्मादपि चोत्तमः ॥ ६३ ॥
तेषामेव स्मारका वै स्थूलदण्डा इमे मताः ।
निवृत्तयेऽध्वश्रमतः श्वसर्पादिभयात्तथा ॥ ६४ ॥
दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् ।
पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् ॥ ६५ ॥

यज्ञोपवीतियोंका अन्तर्जगत् सम्बन्धीय आध्यात्मिक सूत्र होता है, वे ही संसारमें सूत्रवेत्ता और यज्ञोपवीतधारी हैं। ज्ञानयज्ञोपवीतियोंकी ज्ञाननिष्ठा ही ज्ञानशिखा है॥ ५८-५६॥ उनका आत्मज्ञान ही पवित्र ज्ञान कहा गया है। तीन गुणोंकी नित्य धारणाको त्रिदण्ड कहते हैं॥ ६०॥ अथवा अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनोंकी धारणा ही त्रिदण्ड धारण है। उक्त गुणत्रय और भावत्रयकी धारणामें विद्वानोंके मतसे भावत्रयकी धारणा ही श्रेष्ठ है॥६१॥ प्रकृति और पुरुष तथा द्रष्टा और दृश्यकी धारणाको आत्मज्ञानी द्विदण्ड कहते हैं॥ ६२॥ जिस द्विजकी स्वरूपज्ञान मात्रमें स्थिति हो, उसे एकदण्डी जानना चाहिये और यह सबसे उत्तम है॥६३॥ उन्हींके स्मारकस्वरूप ये स्थूल दण्ड हैं। जो मार्गका श्रम दूर करने और सांप, कुत्ता आदिके भयसे बचनेके काम आते हैं॥ ६४॥ बांसका, सौम्य, त्वचासहित, सम पर्व वाला, पुण्य स्थलमें उत्पन्न, नाना कल्मष रहित, बिना जला, कीटोंने जिसे नहीं काटा हो, हरएक

अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम् ।
नासादध्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभ्रियाद्यतिः ॥ ६६ ॥
दण्डात्मनोऽस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते ।
न दण्डेन विना गच्छेदिपुक्षेपत्रयं बुधः ॥ ६७ ॥

सन्न्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।
एष मे मण्डलं भित्त्वा परंब्रह्माऽधिगच्छति ॥ ६८ ॥
षष्ठिं कुलान्यतीतानि षष्ठिमागामिकानिच ।
कुलान्युद्धरते प्राज्ञः सन्न्यस्तमिति यो वदेत् ॥ ६९ ॥

ये च सन्तानजा दोषा ये दोषा देहसम्भवाः ।
प्रेषाऽग्निर्निर्दहेत्सर्व्वांस्तुषाऽग्निरिव काञ्चनः ॥ ७० ॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
उपेक्षा सर्वभूतानां एतावद्भिक्षुलक्षणम् ॥ ७१ ॥
यस्मिन् वाचः प्रविशन्ति कूपे त्रस्ता द्विपा इव ।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ७२ ॥

पोरमें ग्रन्थिसे सुशोभित, नासिका तक, शिर तक अथवा भृकुटि तकका लम्बा दण्ड यतिको धारण करना चाहिये ॥ ६५–६६ ॥ दण्डके साथ आत्मसंयोग सर्वथा रहना चाहिये । दण्डके बिना तीन वार छोड़नेसे बाण जितना दूर जाता हो, उतने दूर भी नहीं जाना चाहिये ॥६७॥ सन्न्यासी द्विजको देखकर सूर्यनारायण भी स्व· स्थानसे इस कारण चलित होते हैं कि, यह मेरा मण्डल भेदन कर ब्रह्मके निकट जाता है ॥६८॥ जो बुद्धिमान् केवल 'संन्यस्तं' कहता है, वह अतीत साठ कुल और आगामी साठ कुलोंका उद्धार करता है ॥६९॥ तुषानल जिस प्रकार सुवर्णके दोषोंको जला देता है, उसी प्रकार सन्तानसम्बन्धी और देहसम्भव दोषोंको प्रेषाग्नि जला देता है ॥७०॥ कमण्डलु ग्रहण करना, वृक्षके मूलमें वास करना, साधारण वस्त्र ओढ़ना, असहाय रहना, सब भूतोंकी उपेक्षा करना ये सब सन्न्या· सियोंके लक्षण हैं ॥ ७१ ॥ कुएँमें गिरे हुए त्रस्त हस्तियोंकी तरह जिसमें वाणिएँ आ गिरती हैं और वे पुनः वक्ताके पास नहीं लौट जाती, उसे कैवल्याश्रममें रहना चाहिये ॥ ७२ ॥ किसीका अवाच्य

नैव पश्येन्नशृणुयादवाच्यं जातु कस्यचित्।
ब्राह्मणानां विशेषेण नैव ब्रूयात्कथञ्चन ॥ ७३ ॥
यद्ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत्।
तूष्णीमासीत निन्दाया कुर्व्वन्भैषज्यमात्मनः ॥ ७४ ॥
येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्व्वदा।
शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७५ ॥
येनकेनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः।
यत्र क्वचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७६ ॥
अहेरिव गणाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७७ ॥
न क्रुध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः।
सर्व्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७८ ॥
अनभ्याहतचित्तः स्यादनभ्याहतवाग्भवेत्।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयम् ॥ ७९ ॥

न देखे न सुने। विशेषतया ब्राह्मणोंको अवाच्य कभी न बोले ॥ ७३ ॥ जो ब्राह्मणका कुशल है, वही सर्वदा कहे। जहाँ निन्दा होती हो, वहां चुप रह जाय और उसीको अपनी औषधि समझे ॥ ७४ ॥ जिस योगिराजका चित्ताकाश महाकाशमें मिलकर एक अद्वितीय रूप धारण करलेता है और जिसकी अद्वैतधारणासे बहुजनतापूर्ण स्थान भी शून्यसा प्रतीत होता है, देवताओंके मतसे वह ब्राह्मण है ॥ ७५ ॥ जिस निर्विकल्प समाधिस्थ संन्यासिप्रवरका शरीर कोई ढक दे या उसे कोई भोजन करा दे, या अनिकेतन रूपसे कहीं सो जाय ऐसे देहाध्यासरहित महापुरुषको देवतागण ब्राह्मण करके जानते हैं ॥ ७६ ॥ सर्पके समान मनुष्योंकी भीड़से, नरकके समान लौकिक सेवकोंसे, शवके समान स्त्रीसे जो भय करता है, देवताओंके मतसे वह ब्राह्मण है ॥ ७७ ॥ मान करनेसे जो प्रसन्न नहीं होता और अपमान करनेसे क्रोध नहीं करता एवं सब भूतोंको अभय दान किया करता है, देवताओंके मतसे वह ब्राह्मण है ॥ ७८ ॥ जिसका न तो विकल चित्त है

अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं यतः।
तस्य मोहाद्विमुक्तस्य भयं नाऽस्ति कुतश्चन ॥ ८० ॥

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
एवं सर्वमहिंसायां धर्म्मार्थमपि धीयते ॥ ८१ ॥

अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते।
अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान्नियतेन्द्रियः ॥ ८२ ॥

शरण्यः सर्व्वभूतानां गतिमाप्नोऽत्यनुत्तमाम्।
एवं प्रज्ञानतृप्तस्य निर्भयस्य निराशिषः ॥ ८३ ॥

न मृत्योरतिगोभावः स मृत्युमधिगच्छति।
विमुक्तं सर्व्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत्स्थितम् ॥ ८४ ॥
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
जीवितं यस्य धर्म्मार्थं धर्म्मो ह्य्र्यर्थमेव च ॥ ८५ ॥

अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ॥ ८६ ॥

और न जिसकी वाणी ही विफल है, उस शत्रुरहित समस्त पापोंसे मुक्त पुरुषको किसका भय है? ॥ ७९ ॥ सब भूतोंसे जो अभय है और जिससे सब भूत अभय हैं, उस मोहरहित पुरुषको कहीं भी भय नहीं है ॥ ८० ॥ हाथीके पैरमें सभी पदगामियोंके जिस प्रकार पैर आजाते हैं, उसी प्रकार अहिंसामें सब धर्म और अर्थ आजाते हैं ॥ ८१ ॥ जो हिंसा नहीं करता वह नित्य अमृतरूपसे रहता है। हिंसा-शून्य, समबुद्धि, सत्यस्वरूप, धृतिमान् और जो जितेन्द्रिय है, वह सब भूतोंका शरण्य है एवं वह उत्तम गति प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रज्ञासे तृप्त, निर्भय, निराशी और मृत्युका अतिक्रमण करनेका जिसका भाव नहीं है अर्थात् मृत्युकी जिसे पर्वाह नहीं है, वह यथार्थ मृत्युको प्राप्त करता है अर्थात् मुक्त होता है। सर्व सङ्गसे मुक्त, आकाशवत् स्थित, और जिसका अहङ्कार दूर हो गया है उस शान्त, एकभावापन्न मुनिको देवता ब्राह्मण करके जानते हैं। जिसका जीवन धर्मके लिये,

निर्म्मुक्तं बन्धनैः सर्व्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ८७ ॥
सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते । सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते ।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः । कुर्यान्न कर्म्माणि हि श्रद्दधानः ॥८८॥
दानं हि भूताऽभयदक्षिणायाः । सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णां तनुं यः प्रथमं जहाति सोऽनन्त्यमाप्नोत्यभयं प्रजाभ्यः ॥८९॥
इति श्रीसन्न्यासगीतायां हंसधर्मनिरूपणं नाम नवमोऽध्यायः ॥

शुक उवाच ।
ब्रह्मर्षे ! श्रुतमस्माभिस्तवानुग्रहतः स्फुटम् ।
सन्न्यासधर्म्मत्रितयाऽधिकारस्य स्वरूपकम् ॥ १ ॥
अधुनाऽत्यन्तगहनमन्तिमस्य विशेषतः ।
अस्मान् परमहंसस्य स्वरूपं वर्णयन् विभो ॥ २ ॥

जिसका धर्माचरण भगवान्के लिये और जिसके दिनरात पुण्य-के लिये हैं, देवताओंके मतसे वह ब्राह्मण है। आशापाशरहित, नवीन कर्म न करने वाला, नमस्कार तथा स्तुतिरहित, सब प्रकारके बन्धनोंसे निर्मुक्त पुरुषको देवतागण ब्राह्मण करके मानते हैं ॥ ८२–८७ ॥ सभी प्राणि सुखसे प्रसन्न होते हैं और दुःखसे अत्यन्त त्रस्त होते हैं। अतः उन प्राणियोंको भय उत्पन्न होनेसे जो दुःखित होता हो, उस श्रद्धालु सन्न्यासीको कर्मसे रहित होना चाहिये ॥८८॥ प्राणिमात्रको अभय दक्षिणा देना अर्थात् तत्वज्ञान दान करना सब दानोंमें अधिष्ठाता अर्थात् श्रेष्ठ है। जो पहिले ही अपनी तीक्ष्ण तनु अर्थात् अपनी देह द्वारा औरोंको क्लेश पहुंचाना त्याग करता है, वह सब संसारसे अनन्त अभयको प्राप्त होता है। अर्थात् ऐसे महा पुरुषको कोई दुःखदायी जगत्में नहीं होता ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीताका हंसधर्मनिरूपण
नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीशुकदेवजी बोलेः–हे ब्रह्मर्षे ! आपकी कृपासे हम लोगोंने तीन प्रकारके सन्न्यासधर्मके अधिकारका स्वरूप सुन लिया। अब अत्यन्त गहन अन्तिम और सर्वथा पूजनीय परमहंस स्वरूप और

दशायाः सर्व्वतोऽर्हायाः कृतकृत्यान् कुरुष्वह ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

भेदः परमहंसस्य ब्रह्मणा सह कोऽपि न।
अहमेवाऽस्मि ब्रह्मेति भावस्याऽनुभवं विना ॥ ४ ॥
कश्चित्परमहंसस्य पदवीं लभते न हि।
द्वैतभानं दशायाञ्चाप्यस्यां नैवाऽभिजायते ॥ ५ ॥
सच्चिदानन्दरूपा याऽप्यद्वैतस्थितिरुत्तमा।
अस्यामेव दशायां सा त्वन्तिमायां प्रवर्त्तते ॥ ६ ॥
तदानीं जायते चाऽऽत्मारामः सन्न्यासिसत्तमः।
आत्मारामत्वऽऽसम्प्राप्तावपि द्वैविध्यमूह्यताम् ॥ ७ ॥
परहंसस्य प्रारब्धकर्म्मवैचित्र्यदर्शनात्।
ईशकोटिर्ब्रह्मकोटिरिति द्वे नामनी श्रुते ॥ ८ ॥
परहंसो ब्रह्मकोटेर्मूकस्तब्धो जडस्तथा।
उन्मत्तो बालचेष्टश्च न जगत्तेन लाभवत् ॥ ९ ॥
परहंसस्त्वीशकोटेः परांकाष्ठां गतोऽनिशम्।
निष्कामस्य व्रतस्याऽत्र जगज्जन्मादिशक्तिमत् ॥ १० ॥

उसकी दशाका विशेष रूपसे वर्णन कर आप हमें कृतार्थ करें ॥१-३॥ महर्षि याज्ञवल्क्यजी बोलेः-परमहंसका ब्रह्मके साथ कोई भेद नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूं इस भावके अनुभव विना कोई परमहंस पदवीको नहीं प्राप्त कर सकता। इस दशामें द्वैतभावका भान ही नहीं रहता ॥ ४-५ ॥ सच्चिदानन्दरूप उत्तम अद्वैतस्थिति इसी अन्तिम दशामें प्राप्त होती है ॥६॥ और तभी वह उत्तम सन्यासी आत्माराम हो जाता है। आत्मारामकी प्राप्तिमें दो प्रकार हैं ॥ ७ ॥ प्रारब्धकर्मके वैचित्र्यसे ईशकोटि और ब्रह्मकोटि इस प्रकारसे दो प्रकारकी परमहंस दशा होती है ॥ ८ ॥ ब्रह्मकोटिका परमहंस मूक, स्तब्ध, जड़,उन्मत्त और बालकोंकी तरह चेष्टा करने वाला होता है। उससे जगत्को कोई लाभ नहीं पहुँचता ॥ ९ ॥ ईश कोटिकी परा-काष्ठा तक पहुंचा हुआ परमहंस दिनरात जगज्जन्मादि शक्तिशाली

जगदीशप्रतिनिधिर्भूत्वा तत्कर्मसंरतः ।
जगद्धितार्थं विप्रर्षे ! एनं विद्धीशरूपिणम् ॥ ११ ॥

परहंसस्त्वीशकोटेर्ब्रह्मरूपधरोऽपि सन् ।
देवर्षिशक्तियुक्तश्च भवतीति विनिश्चयः ॥ १२ ॥

ज्ञानदाता भयत्राता स एव जगतां मतः ।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥ १३ ॥

काष्ठदण्डो धृतो येन सर्व्वाशी ज्ञानवर्जितः ।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ॥ १४ ॥

प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठासमा गीता महर्षिभिः ।
तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत् पर्य्यटेद् यतिः ॥ १५ ॥

अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत् ।
परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात् परेच्छया ॥ १६ ॥

स्वप्नेऽपि यो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः ।
ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७ ॥

भगवान्‌का प्रतिनिधि होकर, निष्काम व्रत ग्रहणकर भगवान्‌के कार्योंमें लगा रहता है। हे विप्रर्षे ! ऐसे ईशस्वरूप परमहंसकी उत्पत्ति जगत्‌के कल्याणार्थ ही हुआ करती है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १०-११ ॥ ईश कोटिका परमहंस ब्रह्मस्वरूप और देवता तथा ऋषियोंकी शक्तिसे युक्त होता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ १२ ॥ वही संसारका ज्ञानदाता और भयत्राता है। जिसने ज्ञानदण्ड धारण किया है, वही एकदण्डी कहने योग्य है। जिसकी आशाएँ नहीं छूटी हैं और जो ज्ञानशून्य है, वह लकड़ीका दण्ड धारण करले, तो निःसन्देह घोर महारौरव नरकमें जायगा ॥ १३-१४ ॥ महर्षियोंके मतसे प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठाके समान है। अतः उसका त्यागकर सन्न्यासीको कीटकी तरह पर्यटन करना चाहिये ॥ १५ ॥ बिना मागे जो कुछ मिल जाय उसीसे भोजन आच्छादन करना चाहिये। उसमें अपनी इच्छा कुछ भी न रहे। न चेत् दिगम्बर रह-कर दूसरोंकी इच्छासे ही स्नान करें ॥ १६ ॥ स्वप्नमें भी जो

पांसुनाच प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाऽप्रियः ॥ १८ ॥
यात्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः ।
यथालब्धोपजीवीस्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ १९ ॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो गतस्पृहः ।
कालकांक्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २० ॥
निर्मानश्चाऽनहंकारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नाऽनृतं भाषते गिरा ॥ २१ ॥
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ।
काले प्राप्ते भवद्भैक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ २२ ॥
वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित् ।
अज्ञातचर्य्यां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत् ॥ २३ ॥

जागृत्की भाँति विशेषरूपसे युक्त हों, इस प्रकारकी चेष्टावाले परमहंस ब्रह्मवादियोंमें श्रेष्ठ और वरिष्ठ हैं ॥१७॥ धूलिधूसर शून्यागारमें जिसका आश्रय है अथवा वृक्षके तले जिसका घर है, जिसने प्रिय और अप्रियको छोड़ दिया है, जो यात्राप्रसङ्गमें जहाँ सन्ध्याकाल हो जाय, वहीं शयन करता है, अग्निरहित, गृहरहित, जो कुछ मिल जाय उसीपर निर्वाह करने वाला, दयालु, जितेन्द्रिय, इच्छारहित ज्ञानयज्ञपरायण, वनमें आकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ जो विचरण करता है, वह मुनि ब्रह्मत्वको प्राप्त करता है ॥ ॥ १८-२० ॥ मानरहित, अहङ्काररहित, द्वन्द्वरहित संशयरहित होकर जो न क्रोध करता है, न द्वेष करता है और न झूठ बोलता है ॥२१॥ पुण्य गृहोंमें संचार करने वाला, प्राणिमात्रकी हिंसा न करने वाला और जो यथा समय भिक्षा करने वाला है, वह ब्रह्मत्वको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥ वानप्रस्थ और गृहस्थोंसे संसर्ग न करे। अज्ञातचर्याकी इच्छा करे, हर्षके अधीन न हो, असत् शास्त्रोंमें रुचि न करे, जीविकासे निर्वाह न करे, अतिवाद और तर्कका त्याग करे, किसीका पक्ष ग्रहण न करे, शिष्योंका दल न बांधे, बहुतसे ग्रन्थों

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
अतिवादाँस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कञ्चननाश्रयेत्॥ २४॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाऽभ्यसेद्बहून्।
नव्याख्यामुपयुञ्जीत नाऽऽरम्भानारभेत् क्वचित्॥ २५॥
अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तबालवत्।
कविर्मूकवदात्मानं तद्दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्॥२६॥
न कुर्यान्नवदेत्किञ्चिन्नध्यायेत्साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनयावृत्त्या विचरेज्जड़वन्मुनिः॥ २७॥
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान् समदर्शनः॥ २८॥
बुधोबालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्य्यान्नैगमश्चरेत्॥ २९॥

का अभ्यास न करे, व्याख्याके पीछे न पड़े, किसी बातका आरम्भ न करे, अव्यक्त लिङ्ग और अव्यक्त प्रयोजन होकर वह मुनि उन्मत्त बालककी भांति रहे। ज्ञानी हो कर भी मनुष्योंकी दृष्टिसे मूक भाव प्रकट करे॥ २३-२६॥ कुछ न करे, कुछ न कहे, साधु असाधु-का विचार न करे और आत्माराम होकर उपर्युक्त वृत्तिसे वह मुनि जड़की भांति विचरण करे॥ २७॥ अकेला, सङ्गरहित, संयतेन्द्रिय, अपने आपमें क्रीडा करने वाला, आत्मरति करने वाला, समदर्शी और आत्मवान् परमहंस इस पृथ्वीपर सञ्चार करे॥ २८॥ * पण्डित होकर बालककी भांति क्रीड़ा करे, चतुर होकर जड़की भांति आचरण करे, विद्वान होकर उन्मत्तकी भांति बोले, वेदज्ञ होकर भी पशुवत् आचरण करे॥ २९॥ † अज्ञानी असत् लोगोंने

---

* ये सब पूर्वोक्त वचन परमहंसके लिये अनुशासन वचन या विधि नहीं हैं। परन्तु इनका तात्पर्य यह है कि, परमहंसोंमें स्वाभाविक रूपसे ऐसे लक्षण पाये जाते हैं। आत्माराम परमहंसके बहिर्लक्षण प्रायः ऐसे ही हो जाते हैं।

† दृश्य के प्रति उपेक्षा ही इन सब लक्षणोंका परिचायक है।

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपिवा।
ताड़ितः सन्निरुद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः ॥ ३० ॥

विष्ठितो मूत्रितोवाऽज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ३१ ॥

सम्माननं परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिञ्च विन्दति ॥ ३२ ॥

तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्।
जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥ ३३ ॥

जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः।
युक्तः कुर्व्वीत न द्रोहं सर्व्वसङ्गांश्च वर्जयेत् ॥ ३४ ॥

सर्वत्र विचरन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः।
समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तञ्च भक्षयेत् ॥ ३५ ॥

चाहे उसे छोड़ दिया हो, अवमानित किया हो, उसका उपालम्भ किया हो, उससे द्वेष किया हो, उसे मारा हो, रोका हो, वृत्तिसे च्युत किया हो, विष्टा मूत्रसे भ्रष्ट किया हो, अनेक तरहसे कँपाया हो, इस प्रकारके कष्टोंमें पतित कल्याण चाहने वाला पुरुष अपने आत्मस्वरूपमें स्थित रहकर निर्विकार बना रहे ॥ ३०–३१ ॥ जब कि सम्मान ही योगसिद्धिकी अत्यन्त हानि करता है, तब इसमें सन्देह नहीं कि, लोगोंसे अवमानित होकर योगी योगसिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥ योगी इस प्रकारका आचरण करे कि, सज्जनों-का धर्म उनके द्वारा दूषित न हो और लोग उसका अपमान करते हुए उसका सङ्ग न करें * ॥ ३३ ॥ जरायुज अण्डज आदिकोंसे वाणी मन या कायाके कर्मों द्वारा कभी द्रोह न करे और सब प्रकारके सङ्गको छोड़ दे ॥ ३४ ॥ वायुके समान कल्मषरहित, दुःख सुख-को समान समझने वाला, क्षमाशील यति मौन अवलम्बनकर सर्वत्र सञ्चार करता हुआ हाथपर आई हुई भिक्षाको भक्षण करे ॥ ३५ ॥

---

* जनसङ्गसे पूर्ण वैराग्य हो इन सब लक्षणोंका कारण है। ये सब लक्षण ब्रह्मकोटिके परमहंसके हैं।

जीवन्मुक्तोऽपि मुनयः ! ब्रह्मकोटेरयं पुनः ।
मूकस्तब्धो बालचेष्टो बहिरेव हि लक्ष्यते ॥ ३६ ॥
अन्तःकरणमध्ये तु ब्रह्मसद्भावमाप्तवान् ।
आत्मारामोऽभवन्नित्यं लोकदृष्टौ जड़ो मतः ॥ ३७ ॥
साक्षात्तु जगतः कश्चित्तस्माल्लाभो न दृश्यते ।
जीवन्मुक्तस्येशकोटेर्विपरीतात्त्वितो दशा ॥ ३८ ॥
सकलं कर्म्म कुर्वाणोऽप्यकर्मी गीयते हि सः ।
ऋषिश्रेष्ठाः ! ब्रह्मकोटेर्जीवन्मुक्ता मतास्त्विमे ॥ ३९ ॥
सनकः प्रथमो ज्ञेयो द्वितीयस्तु सनन्दनः ।
सनातनस्तृतीयः सनत्कुमारस्तुरीयकः ॥ ४० ॥
ईशकोटेर्भवन्तश्च दृष्टान्ता समुदीरिताः ।
जिज्ञासुतेयं भवतामाचार्य्यत्वं तथा मम ॥ ४१ ॥
इदानीं स्थापिते एते युष्माभिर्जगतीतले ।
प्रचारार्थं निवृत्तेर्हि धर्म्मस्यरतो मुनीश्वराः ॥ ४२ ॥
भवद्भिरत्र यत्किञ्चिदिदानीं कृतमुत्तमम् ।
कर्म्मैतद् गीयतेऽकर्म्म महायज्ञश्च वै सदा ॥ ४३ ॥

हे मुनिगण ! ब्रह्मकोटिका इस प्रकारका जीवन्मुक्त पुरुष मूक, स्तब्ध और बालकोंकी तरह क्रीड़ा करनेवाला केवल बाहरसे ही देख पड़ता है ॥ ३६ ॥ अन्तःकरणमें तो वह ब्रह्मसद्भावमें स्थित रहता है । वह नित्य आत्माराम होता हुआ भी लोकदृष्टिसे जड़-वत् प्रतीत होता है ॥ ३७ ॥ ऐसे ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त महापुरुषों द्वारा जगत्का कोई प्रत्यक्ष उपकार होता हुआ नहीं देखा जाता । ईशकोटिके जीवन्मुक्तकी इससे विपरीत दशा होती है ॥ ३८ ॥ सब कर्म करनेपर भी वह अकर्मी माना जाता है । हे ऋषिश्रेष्ठो ! ब्रह्मकोटि-के जीवन्मुक्तोंमें प्रथम सनक, द्वितीय सनन्दन, तृतीय सनातन और चतुर्थ सनत्कुमार हैं ॥ ३९-४० ॥ ईशकोटिके जीवन्मुक्तोंके दृष्टान्त-स्वरूप आप सब हैं । आपकी जिज्ञासुता और मेरा आचार्यत्व, इन दोनोंकी स्थापना हे मुनीश्वरो ! आप सभोंने संसारमें निवृत्ति धर्मके प्रचारार्थ की है ॥ ४१-४२ ॥ आप लोगोंने इस समय जो कुछ

कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्म्मणः ।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ ४४ ॥
कर्म्मण्यकर्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ ४५ ॥
यस्य सर्व्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाऽग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ४६ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलाऽसङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ ४७ ॥
अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ४८ ॥
गुरुर्मनुष्यजातेस्तु ह्यार्य्यजातिर्मता शुभा ।
आर्य्यजातेर्ब्राह्मणा हि ब्राह्मणानान्तु न्यासिनः ॥ ४९ ॥

उत्तम कर्म किया है यह अकर्म कहा जा सकता है और यही महायज्ञ है ॥ ४३ ॥ विहित कर्म, अविहित कर्म और अकर्म अर्थात् कर्मरहित अवस्था इन तीनोंके स्वरूपमें समझने योग्य विषय बहुत कुछ हैं। क्योंकि कर्मविज्ञानकी गति बड़ी गहन है। कर्ममें जो अकर्म देखता है और अकर्ममें जो कर्म देखता है अर्थात् बहिरिन्द्रियोंसे कर्म होते रहनेपर भी जो व्यक्ति कामनारहित अवस्थामें कर्मका न होना समझता है और बलपूर्वक इन्द्रियोंको रोककर कर्मरहित होनेपर भी मनमें वासना रहनेके कारण जो व्यक्ति कर्मका होना समझते हैं, ऐसे महापुरुष मनुष्योंमें बुद्धिमान हैं, ब्रह्ममें युक्त हैं और कर्म न करके भी कर्म करने वाले हैं ॥ ४४-४५ ॥ जिसके सभी काम वासनाके सङ्कल्पसे रहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो चुके हैं, उसे विद्वान् लोग पण्डित कहते हैं ॥ ४६ ॥ कर्मके फलसे असङ्ग, नित्यतृप्त, निराश्रय पुरुष कर्मफलका त्याग कर यदि कर्म करनेमें प्रवृत्त भी हो, तो वह कुछ नहीं करता अर्थात् उसे कर्म दोष नहीं है ॥ ४७ ॥ यह अपना, यह पराया, ऐसी गणना छोटे चित्तके लोग करते हैं। जो उदारचेता हैं, उनका सारा संसार ही कुटुम्ब है॥४८॥समस्त मनुष्यजातिकी गुरु आर्यजाति है। आर्यजातिके गुरु ब्राह्मण और ब्राह्मणोंके गुरु सन्न्यासी हैं ॥४९॥

ब्राह्मणेषु तपोवृद्धाः श्रेष्ठास्तत्र प्रकीर्तिताः।
तेष्वपि ज्ञानवृद्धा ये तत्राऽपि तत्त्वदर्शिनः ॥ ५० ॥

तत्त्वदर्शिषु ये युक्ता आत्मारामाश्च तेषु वै।
न्यासिषु क्रमशः श्रेष्ठाः कुटीचकवहूदकौ ॥ ५१ ॥

हंसः परमहंसश्च यद्यप्येते तथापि ह।
आत्मारामत्वमेवैषां लक्ष्यमत्र प्रकीर्तितम ॥ ५२ ॥

मानवः प्रथमं स्वस्मिन्नार्य्यभावं विधारयन्।
धर्म्मं हि मनुते मुख्यं तदा गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥ ५३ ॥

पुत्रेषु च कलत्रेषु तथेष्टमित्रबन्धुषु।
आत्मत्वं तेषु नियतं विलीनयति धर्मवित् ॥ ५४ ॥

देशवासिषु तत्पश्चाज्जगत्सु च ततः परम्।
विलीनेत्वेवमात्मत्वे वसुधैव कुटुम्वकम् ॥ ५५ ॥

मनुते तत्त्वविज्ज्ञानी जगद्धितपरायणः।
इयं परमहंसस्य गतिः श्रेष्ठा निगद्यते ॥ ५६ ॥

जीवन्मुक्तदशाऽपीयं ज्ञानिनः परिकीर्तिता।
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ॥ ५७ ॥

ब्राह्मणोंमें तपोवृद्ध श्रेष्ठ कहे गये हैं। तपोवृद्धोंमें ज्ञानवृद्ध श्रेष्ठ और ज्ञानवृद्धोंमें तत्त्वदर्शी श्रेष्ठ हैं ॥५०॥ तत्त्वदर्शियोंमें जो व्यक्ति आत्मामें युक्त हैं वे श्रेष्ठ और उनमें भी आत्माराम श्रेष्ठ हैं। सन्न्यासियोंमें कुटीचक, वहूदक, हंस और परमहंस क्रमशः श्रेष्ठ हैं। इन सभोंका आत्माराम हो जाना ही अन्तिम लक्ष्य है ॥५१-५२॥ मनुष्य प्रथम अपनेमें आर्यभाव धारण कर धर्मको मुख्य मानता है। फिर वह धर्मज्ञ गृहस्थाश्रमका आश्रय कर पुत्र, कलत्र, इष्ट, मित्र, बान्धवोंमें आत्मीयत्व नियमित रूपसे स्थापित करता है ॥ ५३-५४ ॥ तत्पश्चात् देशवासियोंमें और फिर सारे संसारमें आत्मीयत्व स्थापन कर अन्तमें वह जगत्के हितमें परायण, तत्त्ववेत्ता ज्ञानीपुरुष वसुधाको ही कुटुम्ब मानने लगता है। यही परमहंसकी श्रेष्ठ गति कही जाती है॥ ५५-५६॥ यही ज्ञानियोंकी जीवन्मुक्त दशा कही गयी है। घोर संसारसागर

सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौ दृढेवाप्सु मज्जताम्।
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः॥ ५८॥

देवता बान्धवाः सन्तः सन्तो ब्रह्मस्वरूपिणः।
नापेक्षते भविष्यञ्च वर्त्तमाने न तिष्ठति॥ ५९॥

न संस्मरत्यतीतञ्च सर्व्वमेव करोति च।
अन्तःसर्व्वपरित्यागी नित्यमन्तरनेषणः॥ ६०॥

कुर्व्वन्नपि बहिः कार्य्यं सममेवावतिष्ठते।
बहिः प्रकृत सर्व्वेहो यथा प्राप्तक्रियोन्मुखः॥ ६१॥

स्वकर्म्मक्रमसम्प्राप्त बन्धुकार्य्यानुवृत्तिमान्।
समग्रसुखभोगात्मा सर्व्वाशास्विव संस्थितः॥ ६२॥

करोत्यखिलकर्म्माणि त्यक्तकर्तृत्वविभ्रमः।
उदासीनवदासीनः प्रकृतक्रमकर्म्मसु॥ ६३॥

में निमज्जन और उन्मज्जन करनेवाले संसारी जीवोंके लिये परमाश्रय स्थान, शान्त ब्रह्मवेत्ता सन्त संसारसागरसे पार होनेके लिये दृढ़ नौकाके समान हैं। सूर्य बहिर्वस्तुओंको प्रकाश करते हैं। परन्तु अन्तर्जगत्के दिखानेके लिये महात्मा लोग एकमात्र आश्रय स्थान हैं॥ ५७-५८॥ सन्त देवता हैं, सन्त बान्धव हैं और सन्त ब्रह्मस्वरूप हैं। वे भविष्यत्की अपेक्षा नहीं रखते, वर्तमानमें नहीं ठहरते, अतीतका स्मरण नहीं करते और ऐसे होते हुए सब कुछ किया करते हैं। अन्तःकरणमें वे सर्वत्यागी और इच्छारहित होते हैं॥ ५९-६०॥ बाहरसे कार्य्य करते हुए सर्वत्र वे समभाव रखते हैं। बाहर स्वाभाविक रूपसे सब प्रकारकी इच्छा करनेवाले, अनायास-प्राप्त कर्ममें तत्पर और अपने प्रारब्धानुसार प्रवाहपतित रूपसे प्राप्त अनुकूल कर्मोंमें तत्पर रहनेवाले होते हैं। और इस प्रकारसे समग्र सुखोंको भोगनेवालेके समान और सभी आशाओंमें स्थित रहनेवालेके सदृश प्रतीत॥ ६१-६२॥ होते हुए कर्तृत्वका विभ्रम छोड़कर वे सभी कर्म करते हैं। प्रकृतिके क्रमानुसार प्राप्त कर्मोंमें उदासीनवत् स्थित होकर॥ ६३॥ वे न

नाऽभिवाञ्छति न द्वेष्टि न शोचति न हृष्यति।
अनुबन्धपरे जन्ताव संसक्तेन चेतसा ॥ ६४ ॥
भक्ते भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः।
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेऽतिधैर्यवान् ॥ ६५ ॥
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनुदुःखितः।
प्रवृत्तवाक्पुण्यकथो दैन्याद्व्यपगताशयः ॥ ६६ ॥
धीरधीरुदितानन्दः पेशलः पुण्यकीर्तनः।
प्राज्ञः प्रसन्नमधुरः पूर्णः स्वप्रतिभोदये ॥ ६७ ॥
निरस्तखेददौर्गत्यः सर्वस्मिन्स्निग्धबान्धवः।
उदारचरिताकारः समः सौम्यसुखोदधिः ॥ ६८ ॥
सुस्निग्धः शीतलस्पर्शः पूर्णचन्द्र इवोदितः।
न तस्य सुकृतेनाऽर्थो न भोगैर्नच कर्म्मभिः ॥ ६९ ॥
न दुष्कृतैर्न भोगानां सन्त्यागेन च बन्धुभिः।
न कार्यकारणारम्भैर्न निष्कृतितया तथा ॥ ७० ॥

इच्छा करते न द्वेष करते, न शोक करते और न प्रसन्न ही होते हैं ॥ ६४ ॥ सम्बन्धयुक्त प्राणियोंके विषयमें आसक्तिरहित चित्तसे वे भक्तोंसे भक्तके समान आचरण करते और दुष्टोंके साथ दुष्टके समान प्रतीत हो जाते हैं। बालकके साथ बालक, वृद्धोंके साथ वृद्ध, धीरके साथ अत्यन्त धर्मशील, युवाके साथ युवक, और दुःखी-के साथ दुःखीके समान दिखाई देते हैं। कोई भाषण करे तो पुण्य कथाएं कहते हैं और दैन्यसे अपना हृदय कलुषित नहीं होने देते ॥ ६५–६६ ॥ धीरबुद्धि, आनन्दमय, चतुर, पावनचरित्र, प्राज्ञ, प्रसन्न, मधुर, अपनी प्रतिभाके उदयके समय पूर्ण, खेद और दुर्गतिसे रहित, सबके प्रियबन्धु, उदारचरित्र और उदाराकार, समभाववान्, सौम्य, सुखके सागर, स्निग्ध, शीतल स्पर्शवान् और षोडशकलामय पूर्णचन्द्रमाके समान प्रकाशमान होते हैं। उन्हें न तो सुकृतसे प्रयोजन है, न भोगसे, न कर्मोंसे, न दुष्कृतोंसे, न भोगोंके त्यागसे, न बान्धवों-से, न कार्यकारणोंके आरम्भोंसे, न उनकी निष्कृतिसे ॥ ६७–७० ॥

न बन्धेन न मोक्षेण न पातालेन नो दिवा।
तथा वस्तु यथा दृष्टं जगदेकमयात्मकम् ॥ ७१ ॥
तदा बन्धविमोक्षाभ्यां न किञ्चित्कृपणं मनः।
सम्यक् ज्ञानाऽग्निना यस्य दग्धाः सन्देहजालिकाः ॥ ७२ ॥
निःशङ्कमलमुड्डीनस्तस्य चित्तविहङ्गमः।
स तिष्ठन्नपि कार्य्येषु देशकालक्रियाक्रमैः ॥ ७३ ॥
न कार्य्यसुखदुःखाभ्यां मनागपि हि गृह्यते।
बहिः प्रकृतसर्व्वार्थोऽप्यन्तः पुनरनीहया ॥ ७४ ॥
न सत्तां योजयत्यर्थे न फलान्यनुधावति।
नोपेक्षते दुःखदशां न सुखाशामपेक्षते ॥ ७५ ॥
कार्योदये नैति मुदं कार्य्यनाशे न खिद्यते।
आमूलान्मनसि क्षीणे सङ्कल्पस्य कथा च का ॥ ७६ ॥
तिलेष्विवाग्निदग्धेषु तैलस्य कलना कुतः।
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम् ॥ ७७ ॥

न बन्धसे, न मोक्षसे, न पातालसे, न स्वर्गसे ही प्रयोजन है, जो कुछ वस्तु जगत्में जैसी कुछ देख पड़ती है वह अद्वैतभावमें ही वे देखते हैं ॥ ७१ ॥ तब बन्ध मोक्षसे उनका मन क्षुद्रताको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ज्ञानाग्निसे उनके सन्देहजाल जल जाते हैं ॥७२॥ उनका निर्मल चित्तरूपी पक्षी निःशङ्कभावसे उड़ता है। देश, काल, क्रियाके क्रमसे कार्योंमें लगे रहनेपर भी वे उन कार्योंके सुख दुःखोंसे लवमात्र सम्बन्धयुक्त नहीं होते। बाहरी स्वाभाविक सभी काम करते रहनेपर भी अन्तःकरणमें वासना न रहनेसे उनकी सत्ताका किसी विषयसे न संयोग ही रहता है और न उनके चित्तमें किसी फलकी ही आकांक्षा रहती है। न वे दुःख दशाकी उपेक्षा करते हैं, न सुख दशाओंकी अपेक्षा ही रखते हैं ॥ ७३–७५ ॥ कार्यका उदय होनेपर वे प्रसन्न नहीं होते और बिगड़नेपर खेद नहीं करते। क्योंकि जिनका आमूल मन ही नष्ट हो गया है, फिर सङ्कल्प की क्या कथा है ॥७६॥ अग्निमें जले हुए तिलमें फिर तेल कैसे निकलेगा? वे जगत्के व्यवहारोंको न छोड़ते हैं, न उनकी इच्छा ही करते हैं ॥७७॥

सर्वमेवानुवर्त्तन्ते पागवारविदो जनाः।
सुशून्येऽपि न खिद्यन्ते देवोद्याने न सङ्गिनः॥ ७८॥
नियतिञ्च न मुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव।
विहरन्नपि संसारे जीवन्मुक्तमना मुनिः॥ ७९॥
आदिमध्यान्तविरसो विहसेज्जागतीर्गतिः।
रुदतो हसतश्चैव जीवन्मुक्तमतेरिह॥ ८०॥
न दुःखं न सुखं किञ्चिदन्तर्भवति न स्थितम्।
वीतरागाः सरागाभा अकोपाः कोपसंयुताः॥ ८१॥
अमोहा मोहवलिता दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः।
इदं सुखमिदं दुःखमित्यादि कलनास्तु ताः॥ ८२॥
अलं दूरगतास्तेषां अङ्कुरा नभसो यथा।
यस्य स्थिता भवेत् प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः॥ ८३॥
प्रपञ्चोऽपि स्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते।
लीनधीरपि जागर्ति यो जाग्रद्धर्म्मवर्जितः॥ ८४॥

इस प्रकारके पारावारवेत्ता योगी सब कुछ आचरण करते हैं। शून्यमें रहनेसे उन्हें न खेद होता है और न देवताओंके उद्यानमें ही उनकी प्रति है॥ ७८॥ जीवन्मुक्त चित्तवाले मुनि संसारमें सञ्चार करने पर भी महान् सूर्यनारायणकी तरह नियतिका उल्लङ्घन नहीं करते॥ ७९॥ आदि, मध्य और अन्तमें विरस होकर जगत्की गतिको देख वे हँसते हैं। चाहे जीवन्मुक्त पुरुष हँसे या रोदन करे, उसके अन्तरमें किसी प्रकारका सुख दुःख स्थिर नहीं रहता। तत्त्वदर्शीलोग वीतराग होकर अनुरक्तकी तरह, अक्रोध होकर क्रोधयुक्तकी तरह, मोहरहित होकर मोहितकी तरह देख पड़ते हैं। जैसे आकाशके अंकुर असम्भव होते हैं, वैसे यह सब है, यह दुःख है, यह भावना उनकी नष्ट हो जाती है। * जो स्थित प्रज्ञ और निरन्तर आनन्द मग्न हैं, और जिनकी स्मृतिमें प्रपञ्चकी छाया कभी कभी आती है वे जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। जो जागृत धर्मसे रहित हैं और जिनकी बुद्धि लीन होनेपर भी सदा जागृत है। जिन

---

* ये सब पूर्वकथित लक्षण समूह ईशकोटिके जीवन्मुक्तके समझे जायँ।

बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ।
वर्तमानेऽपि देहेस्मिञ्छायावदनुवर्त्तिनि ॥ ८५ ॥
अहंताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
न प्रत्यग्ब्रह्मणो भेदः कदापि ब्रह्मसर्गयोः ॥ ८६ ॥
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्तलक्षणः ।
जीवः शिवः सर्व एव भूतेष्वेवं व्यवस्थितः ॥ ८७ ॥
एवमेवाभिपश्यन्ति जीवन्मुक्तः स उच्यते ।
अतीताऽननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ॥ ८८ ॥
औदासीन्यमपि प्राप्तं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपास्ते जीवन्मुक्ता सदेहशाः ॥ ८९ ॥
मूर्तिमद्ब्रह्मरूपा हि सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ ९० ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां परमहंसधर्म्मनिरूपणं नाम
दशमोऽध्यायः ॥

—:*:—

का ज्ञान वासना रहित है उन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। उनका देह छाया की तरह उनके साथ रहने पर भी उनमें अहङ्कार और ममताका अभाव हो जाना ही जीवन्मुक्तका लक्षण है। प्रत्यग्ब्रह्मके साथ ब्रह्म और सृष्टिका जो अभेद है, उसको जो प्रज्ञासे जानता है उसे जीवन्मुक्त लक्षणसे युक्त जानना चाहिये। सब जीव ब्रह्मरूप हैं और ब्रह्म सब भूतोंमें व्याप्त है यह जो देखते हैं, वे जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। अतीतका अनुसन्धान न करना, भविष्यत्का विचार न करना और वर्तमानमें उदासीन रहना जीवन्मुक्तका लक्षण है। * यह मैं सत्य कहता हूं कि, इस प्रकारके उत्तम जीवन्मुक्त साक्षात् ब्रह्मरूप और मूर्तिमान् ब्रह्मस्वरूप होते हैं ॥ ८०-९० ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीताका परमहंसधर्मनिरूपण नामक
दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥

---

* ये पूर्व कथित सब लक्षण दोनों प्रकारके जीवन्मुक्तोंमें पाये जाते हैं।

शुकउवाच।

प्रभो ! परमहंसानामादर्श ! विश्वपूजित।
जगद्गुरो ! हे सर्वज्ञ ! सर्व्वधीरत्नवारिधे॥ १॥
श्रुतमः परमहंसस्य रूपं रम लक्षणानि च।
ब्रह्मकोटीशकोट्योश्च जीवन्मुक्तस्य तत्त्वतः॥ २॥
पृथक् पृथक् लक्षणानि ज्ञातव्यानि विशेषतः।
प्रसादादेव भवतो जानीमो वयमाश्रिताः॥ ३॥
योगीनामारुरुक्षूणां साधनायां कलौ युगे।
कीदृक् लक्ष्यं विधेयं तत् स्फुटं विज्ञापय प्रभो॥ ४॥
त्वयैवाऽभिहितं पूर्वं कलिकालो दुरत्ययः।
सन्यासिनोऽपि नो यान्ति निष्कृति कालधर्मतः॥ ५॥
सन्न्यासिनः कृतार्थाः स्युर्यया धारणया कलौ।
सम्यक्तदुपदेशेन कृतार्थान् कुरु नो गुरो॥ ६॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

सन्न्यासिनां द्वे अवस्थे भेदात् प्रकृतिलक्ष्ययोः।
यथा विविदिषाविद्वत्सन्न्यासाविति साधकाः॥ ७॥

श्रीशुकदेवजी बोलेः-हे परमहंसोंके आदर्श स्वरूप प्रभो! हे विश्वपूजित! हे जगद्गुरो! हे सर्वज्ञ! हे समस्त बुद्धिरूपी रत्नोंके सागर, परमहंसोंके रूप और लक्षणोंको हमने सुन लिया है। अब ब्रह्मकोटि और ईशकोटिके जीवन्मुक्तोंके पृथक् पृथक् लक्षणोंको विशेष निश्चित रूपसे जान लेनेकी इच्छा है। हम आपके आश्रित हैं, आपके प्रसादसे हम जान लेंगे॥ १-३॥ हे प्रभो! योगमार्गमें आरोहण करनेकी इच्छा करनेवाले योगियोंके साधनोंका कलियुगमें कैसा लक्ष्य होना चाहिये सो स्पष्टतया कहिये॥ ४॥ आपनेही पहिले कहा है कि कलिकाल बड़ा कठिन है। संन्यासीगणकी भी कालधर्मसे निष्कृति नहीं होगी॥ ५॥ जिसकी धारणासे कलियुगमें सन्न्यासी गण कृतकृत्य हों, ऐसा उत्तम उपदेश देकर हे गुरो! आप हमें कृतार्थ करें॥ ६॥

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहाः—हे साधकगण! सन्न्यासियोंकी

द्विविधस्यास्य भेदस्य वस्तुतो मूलकारणम्।
ज्ञानानां तारतम्यं स्यादत्रमानमृषिस्मृतिः ॥ ८ ॥
सन्न्यासिनोऽन्तःकरणे यावज्ज्ञानं विकाशते।
दृढं दृश्येषु वैराग्यं तावदेव प्रजायते ॥ ९ ॥
यावद् विषयवैराग्यमेधते योगिनां हृदि।
उदेति तावदेवाऽत्र योगसिद्धिरनाविला ॥ १० ॥
विद्वत्सन्न्यासतः पूर्व्वं शुभा विविदिषा ध्रुवा।
आयातीत्येप नियमः क्वचिद् व्यभिचरत्यपि ॥ ११ ॥
कदाचित्साधकः कश्चित् पूर्वसंस्कारतः क्वचित्।
प्रागेव विद्वत्सन्न्यासमासाद्यैति कृतार्थताम् ॥ १२ ॥
यथा प्रारब्धकर्माणि जात्यादीन् जनयन्ति हि।
धारणामप्यत्र तद्वज्ज्ञानलाभोपयोगिनीम् ॥ १३ ॥
प्रधानधारणाकर्म्मण्यधिकारित्वमागताः।
कर्त्तुं स्वरूपोपालब्धिं शक्नुवन्त्यविलम्बितम् ॥ १४ ॥

प्रकृति और लक्ष्यके भेदसे दो अवस्थाएँ होती हैं। यथाः— विविदिषा सन्न्यासअवस्था और विद्वत्सन्न्यासअवस्था ॥ ७ ॥ ऋषि और स्मृतियोंके मतसे इस प्रकारके द्विविध भेदोंका मूल कारण ज्ञानका तारतम्य ही है ॥ ८ ॥ सन्न्यासियोंके अन्तःकरणमें जब ज्ञानका विकाश होता है, तभी उनमें दृश्य पदार्थोंसे दृढ़ वैराग्य उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥ जब योगियोंके हृदयमें विषय वैराग्य बढ़ता है, तभी उनमें निर्मल योगसिद्धिका उदय होता है ॥ १० ॥ विद्वत्सन्न्यासके पहिले विविदिषा संन्यास श्रेयस्कर है। यही नियम चला आता है, किन्तु कहीं कहीं अन्यथा भी होता है। कभी कोई साधक पूर्वजन्मके संस्कारसे विविदिषा सन्न्यासके पहिले ही वित्सन्न्यास ग्रहण कर कृतार्थ हो जाता है ॥ ११-१२ ॥ जिस प्रकार प्रारब्ध कर्म जाति आदि उत्पन्न करते हैं, उस प्रकार ज्ञान लाभके उपयोगी धारणाको भी उत्पन्न करते हैं ॥ १३ ॥ प्रकृतिधारणामें अधिकार प्राप्त करके शीघ्र ही योगी स्व-स्वरूपकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाते हैं ॥ १४ ॥

इत्थन्ते योगिनः सम्यगनायासमनाविलम् ।
योगारूढत्वमापन्नाः लभन्ते परमं पदम् ।। १५ ।।
नैवमस्त्यारुरुक्षूणां किन्तु नूनमपेक्ष्यते ।
तैरत्र क्रमसन्न्यासः कृतकृत्यत्वसिद्धये ।। १६ ।।
ततो हि वेदे सन्न्यासाश्रमस्य परिवीक्ष्यते ।
भेदश्चतुर्धा यत् पूर्वमहं सुस्फुटमुक्तवान् ।। १७ ।।
प्रारब्धज–प्रकृतितः क्रमसंन्याससंजुषाम् ।
ब्रह्मनिष्ठाऽऽत्मनिष्ठेति नाम्ना भेदो द्विधा मतः ।। १८ ।।
पूर्व्वं गृहीतप्रवृत्तिनिवृत्तिधर्म्मसम्भवः ।
संस्कार एव हेतुः सोऽवस्थयोरनयोर्मतः ।। १९ ।।
वासनातो विनानैव संस्कारो जायते क्वचित् ।
संस्कारतः कर्म्म तस्मात् संस्कारो जायते पुनः ।। २० ।।
संस्कारस्य विशुद्धत्वे कर्म्मणोऽपि विशुद्धता ।
विशुद्धकर्म्मजनितज्ञानान्मोक्षः प्रकाशते ।। २१ ।।
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनायाः क्षयोऽपि च ।
आविर्भवन्ति युगपदपवर्गदशा क्षणे ।। २२ ।।

इस प्रकार वे योगीगण अनायास उत्तम और विशुद्ध योगारूढ दशाको पहुंचकर परमपदका लाभ करते हैं ॥१५॥ विविदिषा सन्न्यासियोंके लिये यह बात नहीं है। उन्हें कृतकृत्य होनेके लिये क्रम सन्न्यासकी अपेक्षा होती है। इसीसे वेदोंमें सन्न्यासाश्रमके चार भेद देखे जाते हैं, जो मैं पहिले स्पष्टरूपसे आपलोगोंको सुना चुका हूं ॥ १६–१७ ॥ प्रारब्धसे उत्पन्न प्रकृतिके अनुसार क्रम सन्न्यासपरायण योगियोंके ब्रह्मनिष्ठ और आत्मनिष्ठ नामक दो भेद होते हैं ॥ १८ ॥ इन दोनों अवस्थाओंके लिये प्राक्तन प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म मूलक संस्कार ही कारण है ॥ १९ ॥ वासनाके बिना संस्कार उत्पन्न नहीं होते। संस्कारसे कर्म और कर्मसे पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं ॥ २० ॥ संस्कार विशुद्ध होनेसे कर्मकी भी शुद्धि होती है और विशुद्ध कर्मसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे मोक्षका प्रकाश होता है ॥ २१ ॥ मुक्ति दशाके क्षणमें तत्त्वज्ञान, मनोनाश

निवृत्तिधर्माज्जीवानां यत्परं घटते पदम् ।
भावशुद्धप्रवृत्त्युत्थधर्मतोऽप्यन्त एव तत् ॥ २३ ॥

अस्यभेदद्वयस्यैतत्कारणं मूल मीक्ष्यते ।
ब्रह्मनिष्ठाऽऽत्मनिष्ठत्वदशा भवति संस्कृतेः ॥ २४ ॥

स्वार्थश्च परमार्थश्च परोपकार इत्यपि ।
चतुर्विधाऽस्ति परमोपकारइति वासना ॥ २५ ॥

ऐहिकाऽभ्युदयस्तत्र स्वार्थो विद्वद्भिरुच्यते ।
स्वीयाऽऽमुष्मिककल्याणं परमार्थः प्रकीर्तितः ॥ २६ ॥

अपरैहिककल्याणं परोपकार उच्यते ।
अपराऽऽमुष्मिकशिवं सकलान्तस्य लक्षणम् ॥ २७ ॥

स्वार्थः परोपकारश्च जीवानां लक्ष्यतामितः ।
परमार्थश्च परमोपकारश्चोच्चयोगिनाम् ॥ २८ ॥

सन्न्यासिनस्त एवाऽत्र केचनैव निरामयम् ।
स्वमोक्षमेवाप्नुवन्तो यान्त्येव कृतकृत्यताम् ॥ २९ ॥

और वासनाका क्षय ये तीनों एक साथ ही उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥ जीवोंको निवृत्ति धर्मसे जो परम पद प्राप्त होता है, भावशुद्धि युक्त प्रवृत्ति धर्मसे भी अन्तमें वही पद प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ संस्कार हेतुक ब्रह्मनिष्ठ और आत्मनिष्ठ नामक जो दशाएँ ऊपर कही गई हैं, उल्लिखित भेदद्वय ही अर्थात् निवृत्ति धर्म और भावशुद्धि युक्त प्रवृत्ति धर्म ही इनका मूल कारण है ॥ २४ ॥ वासनाएँ चार प्रकारकी होती हैं। यथाः—स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार ॥ २५ ॥ जिससे ऐहिक अभ्युदय हो, उसे विद्वान् गण स्वार्थ कहते हैं। अपने पारलौकिक कल्याणका नाम परमार्थ है। दूसरोंके ऐहिक कल्याणको परोपकार और दूसरोंके पारत्रिक कल्याणको परमोपकार कहते हैं। स्वार्थ और परोपकार साधारण जीवोंका लक्ष्य तथा परमार्थ और परमोपकार उच्च श्रेणीके योगियोंका लक्ष्य होता है ॥ २६–२८ ॥ कोई कोई सन्न्यासी केवल अपना ही मोक्ष साधन करके

अन्येधिकारिणः केचित् आत्मनो जगतासमम्।
संस्थाप्यैकत्त्व सम्बन्धं यतन्ते सर्व्वमुक्तये ॥ ३० ॥
ब्रह्मकोटियदाप्नोति पदं सुखमनामयम्।
यदीशकोटिर्लभते तदेकमेव यद्यपि ॥ ३१ ॥
तथापि भेद आद्येन परोक्षं जगतो हितम्।
अन्त्येन जीवन्मुक्तेन साक्षाद् भवति मङ्गलम् ॥ ३२ ॥
न विश्वं लभते किञ्चित् प्रत्यक्षं फलमादितः।
भाविकालाश्रयाद्यस्मात्तत्कर्म विश्वभद्रकृत् ॥ ३३ ॥
जीवन्मुक्त ईशकोटिः पूर्वस्मादेव वस्तुतः।
परमोपकारतत्त्वाधिकारित्वं समाश्रयन् ॥ ३४ ॥
जगद्गुरुत्वमापन्नोऽध्यात्मज्ञानं प्रचारयन्।
विश्वप्रभूतकल्याणं जनयत्त्यविलम्बितम् ॥ ३५ ॥
तत्कर्माण्यपि साधूनि कालमाश्रित्य भाविनि।
भुवने कालसर्गस्य कारणानि भवन्त्यलम् ॥ ३६ ॥

बाधा रहित होकर कृतकृत्य हो जाते हैं ॥ २९॥ और दूसरे अधिकारी गण अपना जगतके साथ एकत्व सम्बन्ध स्थापन कर सभीके मुक्तिकी चेष्टा करते हैं ॥ ३० ॥ ब्रह्मकोटीके जीवन्मुक्त पुरुष जो अनामय पद अनायास प्राप्त करते हैं एवम् जो पद ईशकोटिके जीवन्मुक्तोंको प्राप्त होता है वे दोनों पद यद्यपि एक ही हैं तथापि दोनोंमें भेद यह है कि ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्तसे जगत्का परोक्ष रूपसे हित होता है और ईशकोटिके जीवन्मुक्तोंसे जगत्का प्रत्यक्ष मङ्गल होता है ॥ ३१-३२ ॥ ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्तसे संसारको प्रत्यक्ष कोई लाभ नहीं है। क्योंकि उसका कर्म भविष्यत् कालका आश्रय करके विश्वका मंगल करता है ॥ ३३ ॥ ईशकोटि का जीवन्मुक्त पहिलेसे ही परमोपकारके तत्त्वकी अधिकारिताका आश्रय कर जगद्गुरुत्वको प्राप्त करके अध्यात्मज्ञानका प्रचार करते हुए संसारका परम कल्याण बिना विलम्ब किये साधन करता है। ३४-३५ उस ईशकोटिके जीवन्मुक्त पुरुषके कर्मसमूह कालका आश्रय करके भावी संसारके लिये काल सृष्टिके कारण हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

सतः समुचितात् केन्द्रान्नूनं भगवदिङ्गितैः ।
स कर्त्तुं भगवत्कार्यं प्रभवत्त्यनुपद्रवम् ॥ ३७ ॥

एतादृगेव परमहंसादर्शो जगद्गुरुः ।
जीवन्मुक्तो हि सर्वेषां कल्याणं कर्तुमर्हति ॥ ३८ ॥

सन्न्यासमिच्छतां काले योगिनां सावधानता ।
विशेषतोपेक्षणीया यस्मात् कालो दुरत्ययः ॥ ३९ ॥

कुटीचको वा भवतु विद्यतां वा बहूदकः ।
हंसोवास्तां हि परमोहंसोवास्तु विवेकवान् ॥ ४० ॥

विधाय दृष्टिं परमोपकारे तत्त्व इष्टदे ।
जगदेव परंब्रह्म ब्रह्मैव परमं जगत् ॥ ४१ ॥

इत्यस्य सम्यङ् मीमांसाद्वय सिद्धान्तमाश्रयन् ।
सन्न्याससोपानततौ सर्व्वोह्यग्रसरो भवेत् ॥ ४२ ॥

विराट केन्द्रके द्वारा चालित होकर ऐसे महात्मा भगवान्के इङ्गित-से अनायास भगवान्का कार्य करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ३७ ॥ इस प्रकारका आदर्श परमहंस, जगद्गुरु, जीवन्मुक्त पुरुष सबका कल्याण कर सकता है ॥ ३८ ॥ कलिकालमें सन्न्यास चाहनेवाले योगियोंको विशेष सावधानता रखनी चाहिये । क्योंकि कलिकाल बड़ा कठिन है ॥ ३९ ॥ कुटीचक हो, बहूदक हो, हंस हो या विवेकवान् परमहंस ही क्यों न हो, सबको इष्टकारी परमोपकारके तत्वकी ओर दृष्टि रखकर जगत् ही परमब्रह्म है और परमब्रह्म ही जगत् है इन दोनोंकी मीमांसाओंके सिद्धान्तोंका आश्रय कर सन्न्यास मार्गमें अग्रसर होना चाहिये * ॥ ४०-४२ ॥

---

* विविदिषा और विद्वत् संन्यास इन दोनों भेदों तथा ब्रह्मनिष्ठ और आत्म-निष्ठ इन दोनों दशाओंके सम्बन्धके साथ ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त और ईशकोटिके जीवन्मुक्तोंके अधिकारका सम्बन्ध दिखाते हुए इस ग्रन्थमें यह सिद्ध किया गया है कि कलिकालके कराल आक्रमणसे बचनेके लिये परमोपकार व्रतका धारण करते हुए संन्यासियोंको ईशकोटिकी जीवन्मुक्त अवस्था पर ही लक्ष्य रखना चाहिये।

सत्कर्मोपासनाज्ञानमेतद् यज्ञत्रयं क्रमात् ।
त्रिविधानां हि शुद्धीनां कारणं कीर्तितं परम् ॥ ४३ ॥
अधिभूतं कर्मयज्ञात् शुद्धिं समधिगच्छति ।
पूर्णाहुतिर्भवत्यस्य निष्कामकर्मयोगतः ॥ ४४ ॥
अधिदैवविशुद्धिः स्यादुपास्तियज्ञयोगतः ।
पूर्णाहुतिः पराभक्तावद्वैतभावसंजुषि ॥ ४५ ॥
अध्यात्मशुद्धिः सर्व्वेषां भवति ज्ञानयज्ञतः ।
अहं ब्रह्मास्मीति चिन्तासिद्धावेवाऽस्य पूर्णता ॥ ४६ ॥
यथाधिकारमेते हि साधयन्तो न योगतः ।
विच्युताः स्युः कदापीहाऽन्यथाभावेऽन्यथा भवेत् ॥ ४७ ॥
सिद्धान्तानारुरुक्षूणाम् एतान्निश्चित्य यत्नतः ।
ईशकोटिकमुक्तानामादर्शं परिचिन्तयन् ॥ ४८ ॥
निष्कामकर्मयोगात्मपरकर्मपरां गतिम् ।
पराभक्तिं परज्ञानमाश्रयन् मानवः स्वयम् ॥ ४९ ॥

उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन यज्ञ क्रमशः त्रिविध शुद्धिके परम कारणस्वरूप हैं ॥ ४३ ॥ कर्मयज्ञसे अधिभूतशुद्धि प्राप्त होती है। इसकी पूर्णाहुति निष्कामकर्मयोगसे होती है ॥ ४४ ॥ उपासनायज्ञसे अधिदैवशुद्धि होती है । इसकी पूर्णाहुति अद्वैतभाव युक्त पराभक्तिसे होती है ॥ ४५ ॥ सबकी अध्यात्मशुद्धि ज्ञानयज्ञसे होती है । इसकी पूर्णता 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकारकी चिन्ताकी सिद्धिसे होती है ॥४६॥ यथाधिकार इन यज्ञोंकी साधना करनेसे साधक कभी योगसे च्युत नहीं होगा, परन्तु अन्यथा होनेसे च्युति अनिवार्य है॥४७॥*योगारूढ़ोंके इन सिद्धान्तोंका यत्नके साथ निश्चय कर ईशकोटीके जीवन्मुक्तोंको आदर्श मानकर, निष्काम कर्मयोग,

---

* सन्यासीको भी अपने अपने अधिकारानुसार कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, और ज्ञानयज्ञसे पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। उनको छोड़नेसे अवनतिकी सम्भावना है। इसी कारण प्रस्थानत्रयका विधान है। कर्मयज्ञकी मीमांसा भगवद्गीतासे, उपासनायज्ञकी मीमांसा उपनिषदोंसे और ज्ञानयज्ञकी मीमांसा ब्रह्मसूत्रसे होनेके कारण प्रस्थानत्रय विहित है।

सम्यक् कृतार्थतामाप्त जगन्त्यपि कृतार्थतां।
नूनं गमयितुं सम्यक् शक्नोत्यत्र न संशयः॥ ५०॥
कलिकालप्रभावेण सन्न्यासिष्वपि सुव्रताः।
बहवः सम्प्रदायाः स्युर्लिङ्गान्यपि च भूरिशः॥ ५१॥
द्वैतभेदनिरासायाऽद्वैतभेदस्य सिद्धये।
यः सन्न्यासाश्रमः प्रोक्तस्तत्राऽज्ञानप्रभावतः॥ ५२॥
मतभेदो लिङ्गभेदोऽहङ्कारस्य भिदा तथा।
आचारस्यापि भेदश्च भविष्यति कलौ ध्रुवम्॥ ५३॥
प्रकृतिः कारणं तस्य माया या विश्वमोहिनी।
कलौ सन्न्यासभेदा ये तेषां चक्रे पतिष्यताम्॥ ५४॥
भाविन्यधोगतिर्विप्रा भवचक्रे विघूर्णिनी।
आध्यात्मिकोन्नतिं तद्वत् लब्ध्वा ज्ञानस्य पूर्णताम्॥ ५५॥
पदश्चाभयमव्यग्रं य इच्छेन्नियतात्मवान्।
न पतेदीदृशे सोऽसोवविद्यापाशबन्धने॥ ५६॥

आत्मपर कर्म, परागति, पराभक्ति और परज्ञानका आश्रय कर मनुष्य स्वयम् उत्तम रीतिसे कृतार्थ होता हुआ जगत्को भी कृतार्थ कर सकता है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है॥ ४८-५०॥ हे सुव्रतो! कलिकालके माहात्म्यसे सन्न्यासियोंमें भी अनेक सम्प्रदाय और लिङ्ग होंगे॥ ५१॥ परन्तु जो सन्न्यासाश्रम द्वैतभेदको निर्मूल करने-अद्वैतभावकी सिद्धि करनेके लिये है, उसमें मतभेद अहङ्कारभेद, लिङ्गभेद और आचारभेद ये सब कलिमें केवल अज्ञानके कारण होंगे॥ ५२-५३॥ और वह अज्ञान विश्वमोहिनी मायाके कारण होगा। कलियुगमें सन्न्यासाश्रमके जो अनेक भेद होंगे, उनके चक्रमें जो पड़ेगा, हे विप्रो! उसकी निःसंदेह अधोगति होगी। अतः आध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा करनेवाले और ज्ञानकी पूर्णता प्राप्त करके अभय पदकी आकांक्षा करनेवाले नियतात्मा पुरुषको कदापि ऐसे अविद्यापाशमें बद्ध नहीं होना चाहिये॥ ५४-५६॥

सन्न्यासाश्रममभ्येत्य मुमुक्षुर्यदि सम्पतेत्।
उक्तेऽविद्याचक्रचक्रे तदा कष्टा बहिर्गतिः ॥ ५७ ॥
तन्मायाचक्रतो घोरात् सत्यं सत्यं ब्रवीम्यहम्।
ममैतद्वचने पूर्णं विश्वस्तव्यमलं सदा ॥ ५८ ॥
जीवन्मुक्तपदं तद्वन्न्यासिनश्च जगद्गुरोः।
पदं प्राप्तुमपेक्ष्येत क्रमन्यासो ध्रुवं ध्रुवम् ॥ ५९ ॥
चतुर्धा संविभक्तोऽसौ पूर्वमुक्तोऽत्र विस्तरात्।
स्वाभाविकास्ते चत्वारो विभागाः सम्प्रकीर्तिताः ॥ ६० ॥
यथा प्राकृतिका वर्णाश्रमाद्याः खलु सर्वथा।
तेषामेवाश्रयः श्रेयान्तत्त्वविद्भिरुदीरितः॥ ६१ ॥
महर्षयोऽतिदुर्ज्ञेयं स्वरूपं कर्मब्रह्मणः।
कर्मज्ञैर्योगिभिः कर्म विराड्रूपं त्रिधा स्मृतम् ॥ ६२ ॥
सहजं जैवमैशं च भावत्रयविभेदतः।
ब्रह्माण्डस्य हि संस्कारसमष्ट्या यस्य यस्य च ॥ ६३ ॥
सम्बन्धः कर्मणस्तिष्ठेत् सहजं कर्म तन्मतम्।
जङ्गमस्थावरसृष्टेर्मूलं कर्मैतदीरितम् ॥ ६४ ॥

यदि सन्न्यासाश्रम ग्रहण करके भी उक्त अविद्या चक्रमें मुमुक्षु पड़ेगा, तो उसको उस प्रबल मायाचक्रसे बाहर निकलना कठिन हो जायगा ॥ ५७ ॥ मैं यह सत्य सत्य कहता हूं। मेरे वचनपर आप लोग पूर्ण विश्वास करें ॥ ५८ ॥ जगद्गुरु सन्न्यासीपद और जीवन्मुक्तपद प्राप्त करनेके लिये क्रमसन्न्यास अत्यन्त आवश्यक है। क्रम सन्न्यास चार प्रकारका होता है, सो मैं पहिले विस्तारके साथ कह चुका हूं। ये चारों विभाग स्वाभाविक कहे गये हैं ॥ ५९-६० ॥ जैसे कि तत्त्ववेत्ताओंके कहे हुए वर्णाश्रमादि-विभाग प्राकृतिक हैं। उनका आश्रय करना सर्वथा श्रेयस्कर है॥६१॥ हे महर्षिगण! कर्मब्रह्मका स्वरूप अतिदुर्ज्ञेय है। कर्मज्ञ योगियों-ने कर्मके विराट् स्वरूपको तीन भावोंमें विभक्त किया है, यथाः— सहज, जैव और ऐश। ब्रह्माण्डके समष्टि संस्कारसे जिन जिन कर्मोंका सम्बन्ध हो, उनको सहज कर्म कहते हैं। स्थावर और

असङ्ख्या देवनिचयाश्चालका अस्य कर्मणः ।
परिणामःस्थावरेषु क्रमान्मर्त्येतरेषु हि ॥ ६५ ॥
जङ्गमेषु च जीवेषु या क्रमोन्नतिरीदृशी ।
जायते कारणं तत्र प्रभावो ह्यस्य कर्मणः ॥ ६६ ॥
पिण्डसम्बन्धि यत्कर्म मनुष्यैर्व्यष्टिरूपतः ।
कृतं सद्भिस्तत्त्वविद्भिर्जैवं कर्म तदुच्यते ॥ ६७ ॥
नरादयः स्वतन्त्रा वै जीवा एतस्य कर्मणः ।
निरन्तरं सर्वथैव भवन्ति फलभोगिनः ॥ ६८ ॥
कुर्वन्ति जीवन्मुक्ता यदैशं कर्म तदुच्यते ।
जीवन्मुक्तः कार्यभूमिरीश्वरेच्छा तु कारणम् ॥ ६९ ॥
ततः कर्म भवेदैशमीशकोटिकमुक्ततः ।
ईश्वराधीनमेवैतज्जगत्कल्याणहेतवे ॥ ७० ॥
ईशकोटिकमुक्तानां सञ्चितक्रियमाणके ।
कर्मणी बन्धनेऽनीशे स्वकर्त्तुस्सर्वथैव हि ॥ ७१ ॥

जङ्गम सृष्टिका मूलभूत यही कर्म कहा गया है ॥ ६२–६४ ॥ असङ्ख्य देवतागण इस कर्मके सञ्चालक होते हैं । स्थावरमें जो क्रम परिणाम और मनुष्येतर उद्भिज्ज स्वेदज आदि जङ्गम जीवोंमें जो क्रमोन्नति होती है, इस सहज कर्मका प्रभाव ही उसका कारण है ॥ ६५–६६ ॥ पिण्डके साथ सम्बन्ध युक्त और व्यष्टिरूपसे मनुष्योंके द्वारा किये हुए कर्मोंको तत्त्वदर्शी सज्जनोंने जैवकर्म कहा है ॥ ६७ ॥ इन कर्मोंके सर्वथा फलभोगी मनुष्यादि जीव हैं, जो कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं ॥ ६८ ॥ और जीवन्मुक्तोंके किये हुए कर्मोंको ऐश कर्म कहते हैं । जीवन्मुक्त कार्यभूमि और ईश्वरेच्छा कारणभूमि होनेसे ईशकोटिके जीवन्मुक्तों द्वारा जो ऐश कर्म जगत्कल्याणके लिये होता है, सो ईश्वराधीन है, ऐसा जानना चाहिये ॥६९–७०॥ ईश कोटिके जीवन्मुक्तोंके सञ्चित और क्रियमाण कर्म उस जीवन्मुक्तको बन्धन करनेमें सर्वथा असमर्थ होते हैं ॥ ७१ ॥

भविष्यत्कालजनने साहाय्यमधितिष्ठतः ।
जगतां जीवनायैव जीवन्मुक्तस्य जीवनम् ।। ७२ ।।
जगत्पवित्रतासिद्ध्यै जीवन्मुक्तस्य कर्म वै ।
भगवन्महिमख्यातिप्रचाराय निरन्तरम् ।। ७३ ।।
जीवन्मुक्तकृतोपास्तिः केवलं समुदीरिता ।
जीवन्मुक्तस्य यज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानप्रचारतः ।। ७४ ।।
जगज्जीवोद्धारणाय केवलं तत्प्रकीर्तितम् ।
अतएव महाभागास्तीर्था अपि भवादृशाः ।। ७५ ।।
जगत्पवित्रयन्तो हि तीर्थेऽटन्त्यनिशं स्वतः ।
महर्षयः सत्यमेव ब्रवीमि भवतां पुरः ।। ७६ ।।
जीवन्मुक्ते ब्रह्मणि च न भेदः कोऽपि विद्यते ।
एतावानेव भेदोऽस्तिमूर्तिमद्ब्रह्म ते मताः ।। ७७ ।।
तेषां कर्म ब्रह्मकर्म स्मर्यैतैतदहर्निशम् ।। ७८ ।।
इति श्रीसन्न्यासगीतायां जीवन्मुक्तविज्ञाननिरूपणं
नाम एकादशोऽध्यायः ।। ११ ।।

—:*:—

अतः वे भविष्यत् कालको बनानेमें सहायक हो रहते हैं। संसारके जीवनके लिये ही जीवन्मुक्तका जीवन होता है॥७२॥ जगत्को पवित्र करनेके लिये जीवन्मुक्तका कर्म होता है, जीवनमुक्तकी उपासना भगवन्महिमाके महत्व का प्रचार करनेके लिये होती है और जीवन्मुक्तका ज्ञान केवल तत्त्वज्ञानविस्तार द्वारा जगत्के जीवोंके उद्धार करनेके लिये है। इसीसे आप जैसे स्वयं तीर्थस्वरूप महाभाग जगत्को पावन करते हुए अनेक तीर्थों में अखण्ड परिभ्रमण करते रहते हैं। हे महर्षिगण ! आपलोगोंसे मैं सत्य कहता हूँ कि, जीवन्मुक्त और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है। भेद इतना ही है कि, वे मूर्तिमान् ब्रह्म कहे गये हैं और उनका कर्म ब्रह्मकर्म है इसका स्मरण अहर्निश रखना चाहिये ॥ ७३–७८ ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीताका जीवन्मुक्तविज्ञाननिरूपण नामक एकादश अध्याय समाप्त हुआ।

सर्व्व ऊचुः ।

ब्राह्मणानां गुरो ! सन्न्यासिनां तद्वच्छिरोमणे ।
जगद्गुरोऽद्य भवतः कृपया धन्यतामगात् ॥ १ ॥
इदं तीर्थं तथा सर्वे वयं धन्याः कृतास्त्वया ।
रहस्यं धर्म्मविज्ञानस्याऽतिदुर्ज्ञेयमद्भुतम ॥ २ ॥
पुंसां साधारणो धर्म्मो धर्माङ्गस्य तथैव च ।
स्वरूपं तेऽनुकम्पातः श्रुत्वा पुलकिता वयम् ॥ ३ ॥
प्रबलस्य कलेः रूपं करालं च विचित्रितम् ।
श्रुत्वाश्चर्यपराः सर्वे वयं जातास्तपोनिधे ॥ ४ ॥
ततोऽतिपुण्यरूपस्य त्रैलोक्यपावनस्य च ।
सन्न्यासधर्म्मस्य विभो ! रूपं श्रुत्वा पवित्रिताः ॥ ५ ॥
एवं कुटीचकादीनां चतुर्णां धर्ममुत्तमम् ।
विशेषं कृतकृत्याः स्मः श्रुत्वा सर्व्वे वयं मुने ॥ ६ ॥
उपदिष्टं त्वया सर्वमिदं नौरेव कीर्तिता ।
कलिदुस्तरनद्या वै तरणे मुनिपुङ्गव ॥ ७ ॥

सब बोलेः-हे ब्राह्मणोंके गुरु और सन्न्यासियोंके शिरोमणि ! हे जगद्गुरु ! आज आपकी कृपासे हम धन्यताको प्राप्त हुए ॥ १ ॥ हम सबको और इस तीर्थको भी आपने धन्य किया । धर्मविज्ञान-का अत्यन्त दुर्ज्ञेय और अद्भुत रहस्य, पुरुषोंका साधारण धर्म और धर्माङ्गका स्वरूप आपकी कृपासे सुनकर हम अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २-३ ॥ हे तपोनिधे ! प्रबल कलिका विचित्र कराल रूप सुनकर हम बड़े आश्चर्यान्वित हुए । फिर अति पुण्यरूप, त्रैलोक्यपावन सन्न्यासधर्मका रूप सुनकर हे विभो ! हम पवित्र हुए ॥ ४-५ ॥ हे मुने ! इसी तरह कुटीचकादि चतुर्विध सन्न्यास के विशेष धर्म सुन-कर हम कृतकृत्य हुए॥ ६॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! आपने यह उपदेश क्या किया, मानों कलिरूपी दुस्तरा नदीको तरनेके लिये नाव ही निर्माण कर दी ॥७॥

आत्मज्ञानं श्रावयास्मानधुना कृपया विभो ।
लक्ष्यस्थैर्यं यतोऽस्माकं संसाराब्धिन्तरेम च ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

सर्व्वेषां दृश्यवस्तूनां त्रिधा दर्शनमस्ति यत् ।
आध्यात्मिकाधिदैवाधिभौतिकत्रयरूपतः ॥ ९ ॥
दृश्यकारणरूपा या मायाया वै गुणत्रये ।
दृष्टिश्च सततं विप्राः! तत्त्वज्ञाने हि कारणम् ॥ १० ॥
अनादिसान्ता या माया शक्तिः सा परमात्मानः ।
परमात्मनि लीनायां तस्यामेव हि जायते ॥ ११ ॥
अद्वैतरूपज्ञानस्याविर्भूतिर्योगिनो हृदि ।
ब्रह्मणोऽभिन्नशक्तिस्तु ब्रह्मैव खलु नाऽपरा ॥ १२ ॥
तथा सति वृथा प्रोक्तं शक्तिरित्यविवेकिभिः ।
शक्तिशक्तिमतोर्विद्वन्! भेदाभेदस्तु दुर्घटः ॥ १३ ॥

अब हे विभो! कृपा करके हमें आत्मज्ञान सुनाइये, जिससे हमें लक्ष्यस्थैर्यको प्राप्त होकर हम संसारसागरसे तर जायंगे ॥ ८ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोलेः-सभी दृश्य वस्तुओंका आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक रूपसे त्रिविध दर्शन होता है ॥ ९ ॥ हे विप्रो! दृश्यकी कारणरूप जो माया है, उसके त्रिगुणमें निरन्तर ध्यान रखना ही तत्त्वज्ञानका कारण है * ॥ १० ॥ अनादि, सान्त जो माया है, वही परमात्माकी शक्ति है। उसके परमात्मामें लीन हो जानेपर योगियोंके हृदयमें अद्वैतरूप ज्ञानका आविर्भाव होता है। ब्रह्मसे अभिन्न ब्रह्मशक्तिरूपिणी माया ब्रह्म ही है, कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अतः अज्ञानी लोगोंने ही वृथा शक्तिको ब्रह्मसे भिन्न कहा है। विद्वन्! शक्ति और शक्तिमान्‌का भेदाभेद दुर्घट

---

* तत्त्वज्ञानका उदय यथाथतः तब समझना चाहिये, जब ज्ञानी व्यक्ति प्रत्येक पदार्थमें त्रिभावका अनुसन्धान करे और प्रत्येक क्रियामें त्रिगुणका विचार रक्खे। इस प्रकारकी विचारकी धारणा स्थिर हो जानेपर आगेकी कही हुई अद्वैत भाव युक्त आत्मज्ञानकी दशा ज्ञानीको स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

सृष्टिर्मतैतज्जगतः शक्तिद्वारैव ब्रह्मणः।
द्वैतमेतत्तथाऽद्वैतद्वैताऽद्वैतविवर्जितम् ॥ १४ ॥
यतो हि कारणब्रह्म भिन्नं न कार्यब्रह्मणः।
इत्थं स्थितमिदं विश्वं सदसद्वेवरूपि च ॥ १५ ॥
द्वैतैक्यपदनिर्मुक्तं युक्तं द्वैतैक्यमप्यतः।
चितेः कलङ्कवैरूप्यमिति संसारतां गतम् ॥ १६ ॥
अकलङ्कमसंसारि तच्चाऽभिन्नाऽद्वयात्मकम्।
इयमस्मीति सम्प्राप्तकलङ्का चिन्निबध्यते ॥ १७ ॥
एतामेव कलां बुध्वा स्वकाद्भिन्नां विमुच्यते।
चिदर्थाकारताऽभावाद् द्वित्वात् सत्वं समुज्झति ॥ १८ ॥
सुखादि मिलितां धत्ते न सत्यां सदिति त्वणात्।
शुद्धा निरंशा सत्या वाऽसत्या वेत्येवमादिभिः ॥ १९ ॥
विमुक्ता नामशब्दार्थैः सर्वैः सर्व्वात्मिकाऽपि खम्।
सर्व्वं निरुपमं शान्तं मनसैतत्त्रिमार्गगम् ॥ २० ॥

है। जगत्की सृष्टि, शक्तिके द्वारा ही ब्रह्मसे होती है। यही द्वैत है, यही अद्वैत है और यही द्वैताद्वैतसे विवर्जित अवस्था है ॥ ११-१४ ॥ क्योंकि कारणब्रह्म कार्यब्रह्मसे भिन्न वस्तु नहीं है। इस प्रकारसे यह जगत् सदसद्रूपसे भासमान है ॥ १५ ॥ यह द्वैतसे एकता युक्त भी है और द्वैतके साथ एकतासे मुक्त भी है। प्रकृतिके कलङ्क या छायाके द्वारा चित्की जो विरूपता है, वही संसारका कारण है। अद्वितीय परमात्मा निष्कलङ्क, असंसारी और सर्वथा एकरस है। मैं प्रकृति हूँ इस प्रकारसे कलङ्क प्राप्त करके चित् बन्धनमें आता है। जब प्रकृतिके समस्त भावोंको अपनेसे पृथक् समझता है, तभी चित्की मुक्ति होती है। दृश्य और द्रष्टाकी एकाकारताके अभावसे द्वैतमय जगत्की सत्ता उत्पन्न होती है। वही सत्ता सुख दुःख और मोहरूपी विकल्पके द्वारा असतमें सत्की भ्रान्ति उत्पन्न करती है। परन्तु ब्रह्म इन सब सदसद्रूपी विकल्पभावसे तथा नामरूपसे मुक्त, शुद्ध, पूर्ण, सर्वत्र एकरस, निरुपम, शान्त और आकाशकी तरह सर्वत्र व्याप्त है। जब शुद्ध मनके द्वारा इन्द्रिय-

ब्रह्मेदं बृंहितं ब्रह्म शक्त्याकाशविकासया ।
मनसा मनसि च्छिन्ने स्वेन्द्रियावयवात्मनि ॥ २१ ॥
सत्या लोकाज्जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते ।
छिद्यते शीर्णसंसारकलना कल्पनात्मिका ॥ २२ ॥
भ्रष्टबीजोपमा सत्ता जीवस्य इति नामिका ।
पश्यन्ती नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्य चर्वणाम् ॥ २३ ॥
मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शरदाकाशकोशवत् ।
शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यचिच्चापलं गता ॥ २४ ॥
समस्तसामान्यवती भवतीर्णभवार्णवा ।
अपुनर्भवसौषुप्तपदपाण्डित्यपीवरी ॥ २५ ॥
परमासाद्य विश्रान्ता विश्रान्ता वितते पदे ।
एतत्ते मनसि क्षीणे प्रथमं कथितं पदम् ॥ २६ ॥
द्वितीयं शृणु विप्रेन्द्र ! शक्तेरस्याः सुपावनम् ।
एषैव मनसोन्मुक्ता चिच्छक्तिः शान्तिशालिनी ॥ २७ ॥

परायण मलिन मन छिन्न होता है । तथा परमात्माकी सत्य प्रभाके द्वारा जगज्जाल प्रच्छन्न और विलीन हो जाता है, तब कल्पनारूपी संसारकलना आमूल नाशको प्राप्त हो जाती है ॥ १५-२२ ॥ उस समय जीवकी सत्ता भर्जित बीजकी तरह हो जाती है । वह सांसारिक विषयोंको उस समय देखनेपर भी उसमें आसक्ति शून्य हो जाती है और मनोमोहरूप मेघजालसे निर्मुक्त होकर शरत्कालीन आकाशकी तरह अवस्थान करती है । इस प्रकारसे जो सत्ता पूर्वमें प्रकृतिके संगसे विषयचञ्चल थी, वह शुद्ध चिद्भावमें स्थित होकर जीवित दशामें ही संसारसिन्धुसे मुक्त हो जाती है । उस समय जीवन्मुक्त महापुरुष पुनर्जन्मबीजरहित ज्ञानमय परमानन्दपदमें सदा ही विश्रान्ति लाभ करते हैं । हे विप्रेन्द्रगण ! मनोनाशके बाद योगारूढ़ पुरुषको जो प्रथम पद प्राप्त होता है, सो मैंने आपके निकट वर्णन किया है, अब उसका द्वितीय पद सुनिये । द्वितीय दशामें मनसे उन्मुक्त शान्तिशालिनी वह चित् सत्ता समस्त ज्योति तथा तमसे मुक्त विशाल आकाशकी तरह विराज-

सर्व्वज्योतिस्तमोमुक्ता वितताकाशसुन्दरी।
घनसौषुप्तलेखावच्छिलान्तः सन्निवेशवत् ॥ २९ ॥
सैन्धवान्तस्थरसवद्वातान्तःस्पन्दशक्तिवत्।
कालेन यत्र तत्रैव परां परिणतिं यदा ॥ २९ ॥
शून्यशक्तिरिवाकाशे परमाकाशगा तदा।
चेत्यांशोन्मुखतां नूनं त्यजत्यम्भिवव चापलम् ॥ ३० ॥
वातलेखेव चलनं पुष्पलेखेव सौरभम्।
कालताकाशते त्यक्त्वा सकले सकला कला ॥ ३१ ॥
न जड़ा नाऽजड़ा स्फारा धत्ते सत्तामनामिकाम्।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमहासत्तापदं गताम् ॥ ३२ ॥
तूर्यतूर्यांशकलितामकलङ्कामनामयाम्।
काश्चिदेवविशालात्तसाद्विवत् समवस्थिताम् ॥ ३३ ॥

मान रहती है। तदनन्तर कालक्रमसे गाढ़सुषुप्ति दशाके अनुभवकी तरह, प्रस्तरके अन्तर्गत कठिनताकी तरह ॥ २३—२८ ॥ सैन्धवके अन्तर्गत रसकी तरह या वायुके अन्तर्गत स्पन्द शक्तिकी तरह जब समस्त स्थितिके साररूपसे अवस्थित होती है, तब वह चित् सत्ता आकाशकी शून्यशक्तिकी तरह परमाकाशगत होकर बाह्य विषयके प्रति उन्मुखताको एक बार ही परित्याग करके स्थिर समुद्रकी तरह निश्चलरूपसे अवस्थान करती है ॥ २६-३० ॥ इसके अनन्तर सूक्ष्म पवनके स्पन्द त्यागकी तरह, कुसुमलेखाके सौरभत्यागकी तरह, कालत्व और आकाशत्वको भी परित्याग करके उन जीवन्मुक्त योगियोंकी सत्ता समस्त दृश्य वस्तुओंके सम्पर्कसे सकल प्रकारसे मुक्ति लाभ करती है। उस समय उनकी सत्ता जड़ अजड़ दोनों भावोंसे मुक्त होकर एक अपरिच्छिन्न अनिर्वचनीय भावको धारण करती है। देश कालके द्वारा उस महासत्ताका परिच्छेद नहीं होता। निष्कलङ्क, अनामय और प्रकाशमान रूपसे निखिल वस्तुकी प्रकाश तथा आनन्दसत्तासे भी उत्कृष्टतर प्रकाश तथा आनन्दरूपमें अनिर्वचनीय विशालात्त होकर वह

सर्व्वतः सर्व्वदा सर्व्वप्रकाशस्वादु तत्परम् ।
एषा द्वितीया पदता कथिता तव सुव्रत ॥ ३४ ॥
तृतीयं शृणु वक्ष्यामि पदं पदविदाम्वर ।
एषा दृक् चेत्यवलनादनामार्था पदं गता ॥ ३५ ॥
ब्रह्मात्मेत्यादि शब्दार्थादतीतोदेति केवला ।
स्थैर्येण कालतः स्वस्था निष्कलङ्का परात्मना ॥ ३६ ॥
तुर्य्यातीतादि नामत्वादपि याति परं पदम् ।
सापरा परमाकाष्ठा प्रधानं शिवभावतः ॥ ३७ ॥
चित्त्येका निरवच्छेदा तृतीया पावनी स्थितिः
चिरमस्यां प्रतिष्ठायां सर्व्वाध्वाध्वगदूरगा ॥ ३८ ॥
साममाप्यङ्गवचसां न समायाति गोचरम् ।
सत्यं ब्रह्म जगच्चैक स्थितमेकमनेकवत् ॥ ३९ ॥

साक्षिकी तरह अवस्थान करती है । हे सुव्रत मुनिगण ! चित् सत्ताकी यह द्वितीय अवस्था मैंने कही ॥ ३१-३४ ॥ अब तृतीय अवस्था सुनिये । इस अवस्था में वह चित्सत्ता ब्रह्माकार अखण्ड वृत्ति और क्षीर नीरकी तरह ब्रह्मके साथ एक ही भाव प्राप्त होनेसे नामरूपसे अतीत होनेके कारण ब्रह्म आत्मा इत्यादि संज्ञासे भी अतीत होकर केवल रूपसे अवस्थान करती है । उस समय जीव-न्मुक्तकी सत्तामें किसी प्रकारका विकार न रहनेसे वे कालसे भी स्थिर, तमसे अतीत स्वस्वरूपमें निष्कलङ्क होकर तुरीयातीत आदि नामसे अतीत हो परमभावमें अवस्थान करते हैं । उनकी चित्सत्ता अपने मङ्गलभावमें सर्वप्रधान परमाकाष्ठाप्राप्त केवल चिद्रूपा, देश काल वस्तुतः अपरिच्छिन्ना तथा परमपवित्रा होनेसे तृतीय स्थानीय है । चित्सत्ताकी यह अवस्था समस्त पथ और समस्त पथिकके पुरुषार्थसे दूरवर्ती होनेके कारण वह मेरे भी वाक्यके गोचर नहीं होती । परन्तु यह बात सत्य है कि, ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु है और वे अविद्याके कारण अनेककी तरह जान पड़ते

सर्व्वं वा सर्ववद्भाति शुद्धञ्चाऽशुद्धवत्ततम् ।
अशून्यं शून्यमिव च शून्य वाऽशून्यवत्स्फुटम् ॥ ४० ॥
स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम् ।
अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत् ॥ ४१ ॥
सदेवाऽसदिवाऽदृश्यं तदेवाऽतदिवोदितम् ।
अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जड़वद्गतम् ॥ ४२ ॥
अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम् ।
अनहंसोऽहमिवतदनाशमिव नाशवत् ॥ ४३ ॥
अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाहिवत् ।
आलोकिध्वान्तघनवन्नवञ्च पुरातनम् । ४४ ॥
परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजगद्गणम् ।
सर्वात्मकमपित्यक्तदृष्टं कष्टेन भूयसा ॥ ४५ ॥
अजालमपि जालाढ्यञ्चाशेषवदेनकधा ।
निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम् ॥ ४६ ॥

हैं ॥ ३५–३६ ॥ वही एक ब्रह्म सर्वमय होनेपर भी असर्ववत् और निर्मल होकर मलिनवत् विराजमान है। वह अशून्य होकर शून्यवत् और शून्यप्राय होकर अशून्यवत्, व्यापक होकर अव्यापकवत् और अव्यापक होकर व्यापकवत् अनुभूत होता है। वह अविकारी होकर विकारीकी तरह, शान्त होकर अशान्तकी तरह, सत् होकर असत्की तरह अदृश्य, और अदृश्य होकर दृश्यरूप प्रतिभात होता है। वह अविभक्त होकर विभक्तकी तरह और जड़ताहीन होनेपर भी जड़की तरह प्रतीत होता है ॥ ४०–४२ ॥ वह ज्ञानगम्य न होनेपर भी ज्ञानगम्य और अवयवहीन होकर अवयवों द्वारा सुशोभित है। वह अहंबोधशून्य होकर अहंज्ञानयुक्त, विनाशी न होकर विनाशीके तुल्य, कलङ्करहित होकर कलङ्की और इन्द्रियगोचर न होनेपर भी अविद्याके कारण इन्द्रियगोचरकी तरह वोध होता है। वह प्रकाशमय होकर गाढ़ अन्धकारकी तरह और पुरातन होकर नवीनकी तरह है। परमाणुकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेपर भी उसके गर्भमें ब्रह्माण्ड स्थित है। सर्वमय होकर

ब्रह्मविद्धि विदांनाथमपामिव महोदधिम्।
जगद्रत्नमहाकोषतुलायां तूलकाल्लघु ॥ ४७ ॥
मायामरीचि शशिनमपिनेत्त्रणगोचरम् ।
अनन्तमपि निष्पार न च कचिदपि स्थितम् ॥ ४८ ॥
आकाशे वनविन्यासनगनिर्माणतत्परम् ।
अणीयसामणीयांस स्थविष्टं च स्थवीयसाम् ॥ ४९ ॥
गरीयसां गरिष्ठञ्च श्रेष्ठञ्चश्रेयसामपि ।
अकर्तृ कर्म्मकरणमकारणमकारकम् ॥ ५० ॥
अन्तः शून्यतयैवैतच्चिराय परिपूरितम ।
जगत्समुद्रकमपि नित्यं शून्यमरण्यवत् ॥ ५१ ॥
अनन्त शैलकठिनमप्याकाशलवान्मृदु ।
प्रत्येक प्रत्यह प्रायः पुराणं पेलवं नवम ॥ ५२ ॥

भी वह दृश्यवस्तुसे अतीत है । जो अनेक कष्टोंसे ज्ञात होता है। संसारजालमें पतित न होकर भी संसार जालबद्ध और अनेकधा विराजमान होकर भी अद्वितीय है । हे विद्वद्वर ! जिस प्रकार समुद्र वारिराशिका आधार है; उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानसमूहका आधार है। वह स्वयं मायाशून्य होनेपर भी मायारूप किरणोंका प्रकाशक निर्मल सूर्यकी तरह उसे जानो । वह तिनकेसे भी लघु होनेपर जगत्रूपी रत्नका महाकोशस्वरूप है। वह दृष्टि-गोचर न होनेपर भी मायारूपी मरीचिमालाको उत्पन्न करनेवाले चन्द्रमाके समान है। वह अनन्त है, उसका पार नहीं और न वह कहीं स्थित ही है। वह आकाशमें अनेक वनराजि और पर्वत निर्माण करनेमें तत्पर है। वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे भी स्थूल है ॥४३-४८॥ वह गुरुसे भी गुरु और श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ है । न उसका कोई कर्ता है, न उसने ही किसीको बनाया है । उसके लिये कारण और कार्य कुछ भी नहीं है ॥ ५० ॥ वह शून्यप्राय होकर उसका अन्तर निरन्तर परिपूर्ण है। वह अखिल ब्रह्माण्डका भाण्डारस्वरूप होकर भी शून्यमय अरण्यकी तरह और अनन्त पर्वतोंसे भी कठिन होकर आकाशखण्डकी तरह कोमल है । वह सब कालमें सर्व

आलोकमन्धकाराभं तमस्त्वालोकमाततम् ।
प्रत्यक्षमपिदुर्लक्ष्यं परोक्षमपि चाग्रगम् ॥ ५३ ॥

चिद्रूपमेव च जडं जड़मेव चिदात्मकम् ।
अहमेवानहम्भावमनहं वाऽहमेव च ॥ ५४ ॥

अन्यदेवतदेवाऽहमहमेवाऽन्यदेव तत् ।
अस्य पूर्णार्णवस्यान्तरिमे त्रिभुवनोर्मयः ॥ ५५ ॥

स्फुरन्त इव तिष्ठन्ति स्वभावद्रवतात्मकाः ।
बिभर्ति सर्वमङ्गस्थं तुषारमिव शुक्लताम् ॥ ५६ ॥

भाति सर्गस्त्वनेनैव तुषारेणेव शुक्लता ।
अदेशकालावयवोऽप्येष देवो दिवानिशम् ॥ ५७ ॥

असज्जगत्तनोतीव यथा वारि तरङ्गकम् ॥
एतस्मिन् विकसन्ती मा विपुलाकाशकानने ॥ ५८ ॥

वस्तुस्वरूप, कोमल, पुराण और नवभवापन्न है ॥ ५१–५२ ॥ वह आलोकमय और अन्धकारस्वरूप तथा तिमिरप्राय और सर्वव्यापक आलोकस्वरूप है। वह प्रत्यक्ष होकर दृष्टिके बहिर्भूत और सन्मुख होकर दृष्टिसे दूरवर्ती है ॥ ५३ ॥ वह चिन्मय होकर जड़ और जड़ होकर चिन्मय है। अहंभाव हीन होकर अहंभावयुक्त और अहंभावयुक्त होकर अहंभावशून्य है। मैं ब्रह्म होकर भी अन्य वस्तुकी तरह और अन्यवस्तुवत् होकर भी ब्रह्मस्वरूप हूं ऐसा जानना चाहिये। इस पूर्ण समुद्रके अन्तरमें द्रवस्वभावयुक्त त्रिभुवनरूपी ऊर्मिमाला स्फुरित होती हुई रहती हैं। तुषार जिस प्रकार शुक्ल वर्ण धारण करता है, इसी प्रकार उसने अपनी सङ्गभूत सब वस्तुएँ धारण की हैं ॥ ५४–५६ ॥ और तुषार द्वारा जिस प्रकार शुक्लता प्रकट होती है, इस प्रकार इसके द्वारा समस्त सृष्टि प्रतिभात होती है। यही देव देश, काल और अवयव रहित होकर भी जल जिस प्रकार तरङ्गमालाओंका विस्तार करता है, इस प्रकार निरन्तर यह असत्यमय जगत्का विस्तार करता है। उस विशाल ब्रह्मस्वरूप शून्य काननमें पञ्चभूतमय

जगज्जरठमञ्जर्यः प्रसरत्पत्रपञ्चकाः ।
एष स्वप्रतिबिम्बस्य स्वयमालोकनेच्छया ॥ ५९ ॥
अत्यन्तनिर्मलाकारः स्वयं मुकुरतां गतः ॥
व्योमवृक्षफलस्यास्य स्वेच्छावयव उज्ज्वलाः ॥ ६० ॥
सार्वोपलम्भ उद्यन्च चमत्कुर्वन्ति संविदि ।
अन्तःस्थेन वहिष्ठेन नानाऽनानातयात्मनि ॥ ६१ ॥
एष सोऽन्तर्वहिर्भाति भावाभावविभावया ।
एतद्रूपा पदार्थश्रीरेतस्मिन्नेतदिच्छया ॥ ६२ ॥
चमत्करोत्येतदर्थं जिह्वेव स्वास्यकोटरे ।
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शनदृश्यभूः ॥ ६३ ॥

पञ्चपल्लवान्वित जगत्समूह रूप जीर्ण मञ्जरियोंका विकाश होता है। वह अपने प्रतिविम्बको स्वयं देखनेकी अभिलाषासे अत्यन्त निर्मल दर्पण स्वयं ही बन गया। उस ब्रह्मसे ही गगनवृक्षके फलतुल्य स्वेच्छाकल्पित त्रैलोक्यरूप अङ्गमें देदीप्यमान चन्द्र सूर्य और उनसे उत्पन्न चक्षुरादि इन्द्रिय जीवके दर्शनादि विषयमें चित्तको चमत्कृत कर देते हैं। वही परमात्मा आभ्यन्तरिक वासनामय प्रपञ्च और वहिःस्थित भुवन रूपमें और भीतर बाहर प्रकाशित हो रहा है। वह जागृत अवस्थामें नानारूप और सुषुप्ति अवस्थामें नानारूपरहित इस प्रकार भावाभावमय आकारमें नियत रूपसे प्रकाशमान होता है। जिस प्रकार मुखमें जिव्हा अपना ही रस आस्वादन कर स्वयं चमत्कृत होती है, उसी प्रकार ब्रह्मरूपिणी पदार्थशोभा ब्रह्मकी इच्छासे ब्रह्मके लिये ब्रह्ममें ही विस्मय उत्पन्न करती हुई रहती है * जिससे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; द्रष्टा, दर्शन और दृश्य, बनम् ॥ ५८–६३ ॥

---

* अद्वैत भावना युक्त स्वरूपज्ञान क्रमशः किस प्रकार उदय होता है उसका यथाक्रम वर्णन पूर्वोक्त श्लोकोंमें किया गया है। स्वरूपउपलब्धि होनेपर भी व्युत्थान दशा हुआ करती है। इसका कारण पूर्वकथित भेद हैं। और स्वरूपज्ञानमें ही सबकी परिसमाप्ति है।

कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मैज्ञप्त्यात्मने नमः ।
यत्तद्व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः ॥ ६४ ॥
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ।
अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः ॥ ६५ ॥
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ।
यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ६६ ॥
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ।
अप्रमेयशरीराय सर्व्वतो बुद्धिचक्षुषे ॥ ६७ ॥
अपारपरमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ।
परः कालात्परो यज्ञात्परात्परतरो हि यः ॥ ६८ ॥
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ।
आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितः ॥ ६९ ॥
यं ज्ञानेनाऽधिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ।
महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ॥ ७० ॥

कर्ता, हेतु और क्रियाका विलास होता है, उसी ज्ञप्त्यात्मारूप परमात्माको नमस्कार है । व्यक्त प्रकृतिमें अवस्थित जिस अव्यक्त सत्ताको महर्षिगण पहिचानते हैं और जो प्रत्येक क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ रूपसे विराजमान है, उसी क्षेत्रात्मारूप परमात्माको नमस्कार है । धर्म अधर्मसे अतीत होकर जन्मभयहीन शान्त सन्न्यासीगण जिस परम पुरुषको प्राप्त करते हैं उसी मोक्षात्मारूप परमात्माको नमस्कार है । जिससे उत्पत्ति और प्रलयकी सब क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और जिसमें पुनः विलीन होजाती हैं, उस हेत्वात्मारूप परमात्माको नमस्कार है । जिसके शरीरकी तुलना नहीं है, जिसके ज्ञानरूप चक्षु सर्वत्र व्याप्त हैं और जिसका परम सत्ताका परिमाण अपार है, उस दिव्यात्मारूप परमात्माको नमस्कार है । जो काल-से परे, यज्ञसे परे और परसे भी परतर है, विश्वके अनादि आदि-स्वरूप उस विश्वात्मारूप परमात्माको नमस्कार है । पञ्चकोशमय शरीरमें अवस्थान करके आत्मज्ञान ही उसका ज्ञान है ऐसा जान

यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ।
स्फुरन्ति शीकरा यस्मादानन्दस्याऽम्बरेऽवनौ ॥ ७१ ॥
सर्व्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः ।
यस्मिन् सर्व्वे यतः सर्व्वं यः सर्व्वे सर्व्वतश्च यः ॥ ७२ ॥
यश्च सर्व्वमयो देवस्तस्मै सर्व्वात्मने नमः ।
शृणुध्वं मुनयः सर्व्वे सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ७३ ॥
अस्याः सन्न्यासगीतायाः प्रकाशाज्जगतीतलम् ।
धन्यत्वमगमत्तद्वन्नरजातिः कृतार्थताम् ॥ ७४ ॥
इयं तूपनिषद् प्रोक्ता न देया यस्य कस्यचित् ।
देया तु गुरुभक्ताय सदाचारान्विताय च ॥ ७५ ॥
आस्तिकाय महाभागाः ! सत्यशीलयुतायच ।
अध्यापनंचाध्ययनं यत्राऽस्या जायते सदा ॥ ७६ ॥
तत्र वाग्देवताज्ञानजननी ह्युपतिष्ठते ।
अध्यापयति यश्चैनां तस्याऽनेक गुणैधते ॥ ७७ ॥

कर ज्ञानकी सहायतासे ज्ञानीगण जिसे प्राप्त करते हैं, उस ज्ञानात्मारूप परमात्माको नमस्कार है। घोर अविद्यान्धकारके परपारमें विराजमान महान् तेजस्वरूप जिस परम पुरुषको जानकर ज्ञानीगण मृत्युको अतिक्रम करते हैं, उसो ज्ञेयात्मा स्वरूप परमात्माको नमस्कार है। जिससे आनन्दके कण आकाश और पृथ्वीमें विस्फारित होते हैं, सकल भूतोंके प्राण उसी ब्रह्मानन्दात्मारूप परमात्माको नमस्कार है। जिसमें सब है, जिससे सब है, जो सब है, जो सब प्रकारसे है और सर्वमय देव है, उस सर्वात्मा रूप परमात्माको नमस्कार है। समस्त ऋषियों ! मैं सत्य कहता हूं, सुनिये ॥६४-७३॥ इस सन्यासगीताके प्रकाशसे जगतीतल धन्य हुआ और मनुष्यजाति कृतार्थ हुई है। यह उपनिषदस्वरूप है। हरएकको नहीं देनी चाहिये। हे महाभाग ! केवल सदाचारसम्पन्न, गुरुभक्त, आस्तिक और सत्यशील पुरुषको देनी चाहिये। इसका जहाँ सर्वदा अध्ययन और अध्यापन होता रहता है, वहां ज्ञानजननी वाग्देवता वास करती है।

विद्या प्रारब्धकर्मभ्यो महामहिमशालिनः।
अस्यास्तु पुस्तकं यैश्च गृहस्थैर्दीयते मुदा ॥ ७८ ॥
ऐश्वर्यहीनं न भवेत्तद् गृहं वै कदाचन।
पाठः प्रवर्त्तते यस्य गृहस्थस्य गृहे सदा ॥ ७९ ॥
पुस्तकस्याऽस्य तद्गेहं धनधान्ययुतं भवेत्।
विदुषी जायतेऽवश्यं तदीया सन्ततिः सदा ॥ ८० ॥
वानप्रस्थगणश्चास्याः—पाठेन लभते ध्रुवम्
पराकाष्ठां तपस्यायाः स्वस्या ज्ञानपरायणः ॥ ८१ ॥
सन्न्यासिनां तु गीतेयं सर्वसिद्धिकरी मता।
यदि सन्न्यासिनो ह्यस्याः पाठं कुर्य्युर्निरन्तरम् ॥ ८२ ॥
तापत्रयविनिर्मुक्ता लभन्ते मुक्तिमुत्तमाम्।
तथैव परभक्तेस्ते लाभे वै परमात्मनः ॥ ८३ ॥
आत्मज्ञानस्य प्राप्तौ च भवेयुरधिकारिणः।
ऋषिश्रेष्ठाः! अहं मन्त्रमोंतत्सदिति संपठन् ॥ ८४ ॥
समाप्तिं प्रापयामीमं ब्रह्मयज्ञं महत्तमम्।
यज्ञे ब्रह्मणि च ज्ञेयो न भेदोऽणुरपि क्वचित् ॥ ८५ ॥

जो इसे पढ़ाता है, उस महान् महिमाशाली पुरुषकी विद्या प्रारब्धकर्मकी अपेक्षा अनेक गुण अधिक बढ़ती है। ॥ ७४-७७ ॥ इस गीताकी पुस्तक जिन गृहस्थों द्वारा प्रदान की जायगी, उनका गृह कभी ऐश्वर्यहीन नहीं होगा। जिस गृहस्थके घर सदा इस पुस्तकका पाठ पढ़ाया जायगा, उसका घर धन-धान्य-युक्त रहेगा और उसकी सन्तति अवश्य ही विद्वान् होगी ॥ ७८-८० ॥ ज्ञानपरायण वानप्रस्थगण इसके पाठसे अपनी तपस्याकी पराकाष्ठाको प्राप्त करेंगे ॥ ८१ ॥ सन्न्यासियोंके लिये यह गीता सर्वसिद्धिकरी कही गई है। यदि सन्न्यासिगण इसका निरन्तर पाठ करें, तो तापत्रयसे मुक्त होकर वे उत्तम मुक्ति लाभ कर सकेंगे। इसी प्रकार पराभक्ति, परमात्मा और आत्मज्ञानकी प्राप्तिके वे अधिकारी बनेंगे। हे ऋषिश्रेष्ठो! अब मैं ॐ तत्सत् इस मन्त्रको कहकर इस ब्रह्मयज्ञको समाप्त करता हूं। यज्ञ और ब्रह्ममें अणुमात्र भी

अतन्ता ईरिता यज्ञा ऋषिभिस्तत्वदर्शिभिः ।
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथैव च ॥ ८६ ॥
स्वाध्याययज्ञानयज्ञाश्च कर्मयज्ञा अपि ध्रुवम् ।
ब्रह्मप्राप्तिनिदानत्त्वात् सर्व्वे ब्रह्ममया इमे ॥ ८७ ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान्सर्व्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ८८ ॥
ब्रह्माऽर्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माऽग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्मसमाधिना ॥ ८९ ॥

इति श्रीसन्यासगीतायां आत्मस्वरूपनिरूपणं
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

भेद नहीं जानना चाहिये ॥ ८२-८५ ॥ तत्त्वदर्शी मुनियोंने अनन्त यज्ञ कहे हैं। यथा द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञान-यज्ञ, कर्मयज्ञ इत्यादि। ये सभी ब्रह्मप्राप्तिके कारणस्वरूप होनेसे ब्रह्ममय हैं ॥ ८६-८७ ॥ इस प्रकारके बहुतसे यज्ञ वेदोंमें कथित हैं। उन सबको कर्मसे उत्पन्न हुए समझो। यह जानकर मुक्त हो जाओगे। ब्रह्ममें अर्पण है, ब्रह्म ही हवि है, ब्रह्मरूपी अग्निमें ब्रह्मने ही हवन किया है और ब्रह्मकर्मकी समाधिसे ब्रह्म द्वारा ब्रह्म ही प्राप्तव्य है * ॥ ८८-८९ ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीताका आत्मस्वरूप निरूपण नामक
द्वादशाध्याय समाप्त हुआ ॥

—+:*:+—

---

* निवृत्ति धर्मकी पूर्णताको प्राप्त करके वास्तवमें निष्क्रिय होकर ब्रह्म-स्वरूपको प्राप्त करना ही सन्न्यास है। सन्न्यास और भगवत्सायुज्य एक ही विषय है। यथार्थ सन्न्यासी मूर्तिमान् ब्रह्म हैं, ऐसे धर्मकी प्रकाशक सन्न्यासगीता भी ब्रह्मस्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण ऐसे वचनके द्वारा इस गीताकी परिसमाप्ति की गई है, वास्तवमें जब जीवन्मुक्त महापुरुष वासनाक्षय और स्वरूपकी उपलब्धि द्वारा ब्रह्मरूप हो जाता है उस समय उसके लिये कारण ब्रह्मरूपी स्वस्वरूप और कार्य ब्रह्मरूपी यज्ञकी सब सामग्रियां दोनों एक अद्वैत भावमें ब्रह्मरूप ही होंगी इसमें सन्देह ही क्या है ?

श्रीभारतधर्म महामण्डलके सभ्यगण और मुखपत्र।

श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्यालय काशीसे एक हिन्दी और अंग्रेजी भाषाका सम्मिलित मासिकपत्र एवं प्रान्तीय कार्यालयोंसे अन्यान्य भाषाओंके कई मासिक पत्र प्रकाशित होते हैं।

श्रीमहामण्डलके पाँच श्रेणीके सभ्य होते हैं। यथाः—स्वाधीन नरपति और प्रधान प्रधान धर्माचार्यगण संरक्षक होते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंके बड़े बड़े जमींदार सेठ साहूकार आदि सामाजिक नेता उस उस प्रान्तके चुनावके द्वारा प्रतिनिधि सभ्य चुने जाते हैं। प्रत्येक प्रान्तोंके अध्यापक ब्राह्मणोंमेंसे उस उस प्रान्तीय मण्डल द्वारा चुने जाकर धर्मव्यवस्थापक सभ्य बनाये जाते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंसे पाँच प्रकारके सहायक सभ्य लिये जाते हैं. विद्यासम्बन्धीय सहायक सभ्य, धर्मकार्य करनेवाले सहायक सभ्य, महामण्डल, प्रान्तीय मण्डल और शाखा सभाओंको धन दान करनेवाले सहायक सभ्य, विद्वान् ब्राह्मण सहायक सभ्य और साधु संन्यासी सहायक सभ्य। पाँचवी श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य कहाते हैं जो २॥) वार्षिक देनेसे हिन्दू स्त्री पुरुष हो सकते हैं। इन सब प्रकारके सभ्यों और श्रीमहामण्डलका प्रान्तीय मण्डल, शाखा सभा और संयुक्त सभाओंको श्रीमहामण्डलका हिन्दी-अंग्रेजी मासिक पत्र बिना मूल्य दिया जाता है। इसके अतिरिक्त समाजहितकारी कोषके द्वारा उनके उत्तराधिकारियोंको विशेष लाभ मिलता है। पत्र व्यवहार इस पतेपर करें—

प्रधानाध्यक्ष,

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल, जगत्गञ्ज, काशी।

सनातन धर्मकी पुस्तकें ।



धर्मकल्पद्रुम ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दू जातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी कि, जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अंग उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ हीसाथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप-जिज्ञासुको भलीभांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्म-महामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन किया है। इस ग्रंथसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रंथों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिक धर्मका प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थ विद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसके छः खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥), तृतीयका २), चतुर्थका २), पंचमका २), और षष्ठका १॥) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागजपर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। सातवां खण्ड यंत्रस्थ है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित।

इस ग्रंथमें आर्य्यजातिका आदिका वासस्थान, उन्नतिका आदर्श निरूपण, शिक्षादर्श, आर्यजीवन, वर्णधर्म आश्रमधर्मआदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित किये गये हैं। यह ग्रन्थ धर्मशिक्षाके अर्थ बी. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य २)

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित।

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय संस्करण परिवर्द्धित और सुंदर होकर छप चुका है। यह ग्रन्थ भी बी० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग, और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अति सुंदर वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ प्रथम वार्षिक एफ. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका।

इसमें वेद, उपनिषद्, पुराण, दर्शन, स्मृति आदि सब शास्त्रोंका सारांश दिया गया है। धर्मशिक्षा लक्ष्यको सामने रखकर यह ग्रंथ भी प्रणीत हुआ है। इसके द्वारा स्कूल, कालेज, पाठशालाओंके कार्यकर्त्तागण तथा बालकोंके मातापितागण बालकोंको धर्मशिक्षा देकर लाभवान् होंगे। मूल्य १॥)

धर्मचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

एन्ट्रेंस क्लासके बालकोंके पाठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक है। इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूपवर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्यकर्मोंका वर्णन, षोड़श संस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्का-

रशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। मूल्य १)

आर्य गौरव।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। यह ग्रंथ स्कूलकी ९वीं तथा १०वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

आचारचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यह भी स्कूलपाठ्य सदाचार सम्बन्धीय धर्मपुस्तक है। इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या सदाचार किस लिये प्रत्येक हिंदु संतानको अवश्य ही पालने चाहिये, इसका रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है और आधुनिक समयके विचारसे प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है। यह स्कूलकी ८ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्वखचित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है। इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझाई गई हैं कि, इस एकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता है। यह स्कूल की ७ वीं कक्षाका पाठ्य हैं। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका।

सम्पादक पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर।

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६ ठी कक्षाका पाठ्य है। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १।)

धर्मप्रश्नोत्तरी।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अतिसंक्षिप्तरूपसे इस

पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरोंकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गई है कि, छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभांति हृदयङ्गम कर सकेंगे। भाषा भी अतिसरल है। यह ग्रन्थ स्कूलकी ४ थी कक्षाका पाठ्य है। कागज और छपाई बढ़िया होनेपर भी मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोक रहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

मनुष्य मरकर कहां जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृत-रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोक रहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

स्वर्ग और नरक कहाँ और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका।

श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवनचरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य कर्म चन्द्रिका।

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिन्दुमात्रके अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तांत्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभांति वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान।

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भलीभांति हो जाता है। यह स्कूलकी ५ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ।) आना।

धर्म-कर्म-दीपिका।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, त्रिविध कर्मका वैज्ञानिक

स्वरूप, कर्मसम्बन्धसे मुक्ति, कर्मके साथ धर्मका मिश्र सम्बन्ध, धर्मरूप कल्पद्रुमका विस्तृत वर्णन, वर्णाश्रम धर्मकी महिमा और विज्ञान, उपासनारहस्य, उपासनाकी मूलभित्तिरूप पीठरहस्य, धर्म कर्म और यज्ञ शब्दोंका वैज्ञानिकरहस्य और सदाचारका विज्ञान और महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, यह ग्रन्थ मूल और सुस्पष्ट हिन्दी-अनुवाद-सहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है. यह ग्रंथरत्न प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये उपादेय है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान।

यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। यह स्कूलकी तीसरी कक्षाका पाठ्य है। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य -)

ब्रह्मचर्यसोपान।

ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रंथकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिये यह ग्रंथ बनाया गया है, परंतु सर्वसाधारणकी धर्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अंग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रंथमें वर्णित है। मूल्य ।) चार आना।

धर्मप्रचारसोपान।

यह ग्रंथ धर्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितों के लिये बहुत ही हितकारी है। मूल्य ≡) आना।

उपदेशपारिजात।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रंथ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रोंमें क्या २ विषय हैं, धर्मवक्ता होनेके लिये किन २ योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है, इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं। संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रंथ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आना।

कल्किपुराण।

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारणकर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। वर्तमान समयके लिये यह बहुत हितकारी ग्रंथ है। विशुद्ध हिंदी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। धर्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रंथको पढ़ना उचित है। मूल्य १॥)

योगदर्शन।

हिन्दीभाष्यसहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादि सम्मत दर्शन है। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर कोई असम्बद्धता नहीं मालूम होगी। मूल्य २) दो रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य।

इस ग्रंथमें सात अध्याय हैं। यथा आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्तन, चिंताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन। मूल्य १।)

निगमागमचन्द्रिका।

प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ भाग धर्मानुरागी सज्जनोंको

मिल सकते हैं। इन भागोंमें सनातनधर्मके अनेक गूढ़, रहस्यसम्बंधी ऐसे ऐसे प्रबंध प्रकाशित हुए हैं कि, आजतक वैसे धर्मसम्बंधी प्रबंध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं। प्रत्येकका मूल्य १)

मन्त्रयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रंथ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। मू० १) एक रु०।

हठयोग संहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अंग और क्रमशः उनके लक्षण साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। मूल्य ॥।)

तत्त्वबोध।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणीसहित। यह मूल वेदान्त ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य्यकृत है। मूल्य =)

स्तोत्र कुसुमाञ्जलि।

इसमें पंचदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियां और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मू० ।) आना।

दैवीमीमांसादर्शन प्रथम भाग।

यह ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ था। इसके चार पाद हैं, यथाः—प्रथम रसपाद, इस पादमें भक्तिका विस्तारित विज्ञान वर्णित है। दूसरा सृष्टिपाद, तीसरा स्थितिपाद और चौथा लयपाद, इन तीनों पादोंमें दैवीमाया, देवताओंके भेद, उपासनाका विस्तारित वर्णन और भक्ति तथा उपासनासे मुक्तिकी प्राप्तिका सब कुछ विज्ञान वर्णित है। मूल्य १॥) डेढ़ रुपया।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम खण्ड।

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी-भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। मूल्य १) एक रु०।

सप्त गीताएं ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पांच प्रकारके उपासकोंके लिये पांच गीताएं—श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता एवं संन्यासियोंके लिये संन्यासगीता और साधकोंके लिये गुरुगीता भाषानुवादसहित छप चुकी हैं। विष्णुगीताका मूल्य १) सूर्य्यगीताका मूल्य ॥) शक्तिगीताका मूल्य १) धीशगीताका मूल्य ।॥) शंभुगीताका मूल्य १) संन्यासगीताका मूल्य ॥।) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती और गणपतिदेव तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमबंध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

"THE WORLD'S ETERNAL RELIGION"

A Unique work on Hinduism in one volume, containing 24 Chapters with tricolour illustrations, glossary, etc. No work has hitherto appeared in English that gives in a suggestive manner the real exposition of the Hindu religion in all its phases. The book has perfectly supplied this long-felt want. Names of the chapters are as follows:—1, Foreword. 2. Universal Religion, 3. Classification of Religion. 4. Law of Karma, 5 Worship in all its phases, 6. Practice of Yoga through Mantras, 7. Practice of Yoga through physical exercise, 8. Practice of Yoga through finer force of Nature. 9. Yoga through power of reasoning. 10 the Mystic Circle, 11. Love and Devotion. 12. Planes of Knowledge, 13. Time, space, creation. 14. the Occult world, 15. Evolution and Reincarnation. 16. Hindu philosophy. 17. The System of Castes and Stages of Life, 18. Woman's Dharma. 12. Image Worship. 20. The great Sacrifices. 21. Hindu Scriptures, 22. Liberation. 23. Education, 24. Reconciliation of all Religions. The followers of all religions in the world will profit by the light the work is intended to give. Price cloth bound, superior edition Rs. 5, Ordinary edition Rs. 3, postage extra.

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्

कार्यसम्पादिका:—हर हाईनेस धर्म-सावित्री महारानी शिव कुमारी देवी, नरसिंह गढ़।

भारतवर्षकी प्रतिष्ठित रानी-महारानियों तथा विदुषी भद्र महिलाओंके द्वारा, श्रीभारतधर्म महामण्डलकी निरीक्षकतामें आर्य-माताओंकी उन्नतिकी सदिच्छासे यह महापरिषद् श्रीकाशीपुरीमें स्थापित की गई है। इसके निम्न लिखित उद्देश्य हैं—

(क) आर्य महिलाओंकी उन्नतिके लिये नियमित कार्यव्यवस्थाका स्थापन (ख) श्रुति-स्मृति प्रतिपादित पवित्र नारी-धर्मका प्रचार (ग) स्वधर्मानुकूल स्त्री-शिक्षाका प्रचार (घ) पारस्परिक प्रेम स्थापित कर हिन्दु सतियोंमें एकताकी वृद्धि (ङ) सामाजिक कुरीतियोंका संशोधन और (च) हिन्दीकी उन्नति करना।

परिषद्के विशेष नियम—१-सब प्रकारकी सभ्याओंको इसकी मुख पत्रिका "आर्य महिला" मुफ़्त मिलेगी। २-स्त्रियाँ ही सभ्याएँ हो सकेंगी। ३-यदि पुरुष भी परिषद्को किसी तरहकी सहायता करें, तो वे पृष्ठपोषक समझे जायंगे और उनको भी पत्रिका मुफ्त मिला करेगी। ४-परिषद्की चार प्रकारकी सभ्याओंके ये नियम हैं:—

(क) कमसे कम १५०) एक वार देने पर "आजीवनसभ्या" (ख) १०००) एक ही वार या प्रति मास १०) देने पर "संरक्षक सभ्या" (ग) १०) वार्षिक देने पर "सहायक सभ्या" और (घ) ५) वार्षिक देने पर या असमर्थ होनेसे ३) ही वार्षिक देने पर "सहयोगी सभ्या" आर्य महिला मात्र बन सकती हैं।

कार्याध्यक्षा,
आर्यमहिला-हितकारिणी
महापरिषत्कार्यालय,
श्रीमहामण्डलभवन, जगत्गञ्ज, बनारस।